॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

वर्ष ५२] * * [अङ्क ५

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,५०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०४, मई १९७८

चित्र-सूची

Free of Charge] जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर
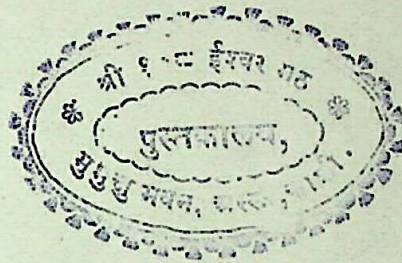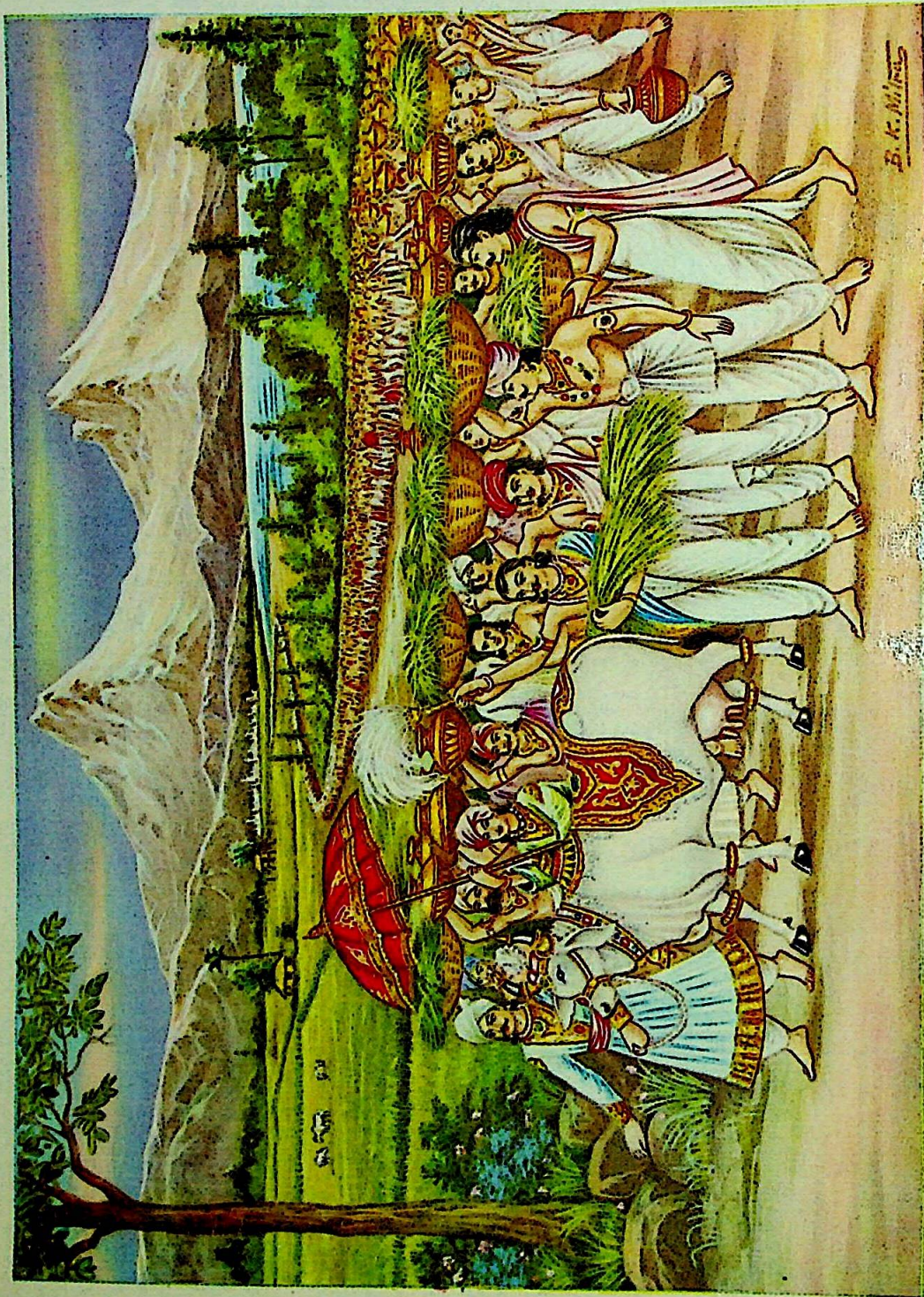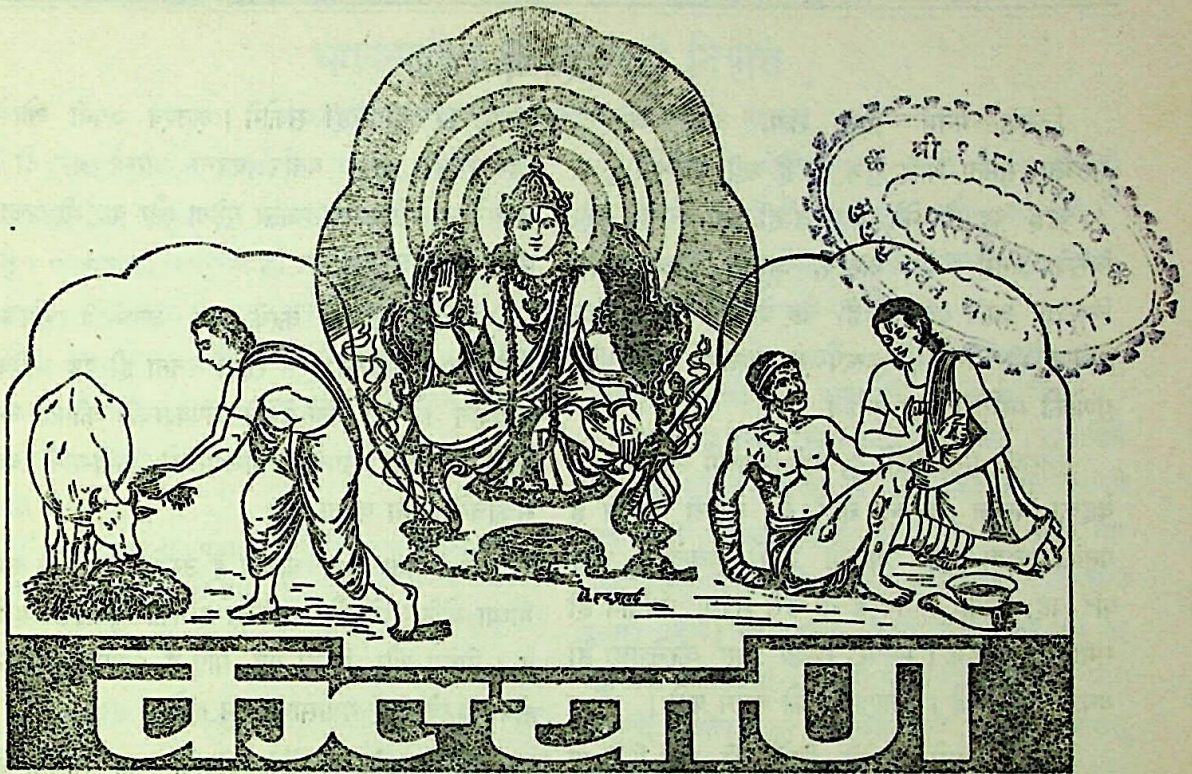
श्रीलाभसुभगः सत्यासक्तः स्वर्गापवर्गदः । जयतात् त्रिजगत्पूज्यः सदाचार इवाच्युतः ॥

वर्ष ५२ | गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०४, मई १९७८ | संख्या ५ पूर्ण संख्या ६१८

गोमाताको नमस्कार !

या लक्ष्मीः सर्वभूतानां सर्वदेवेष्ववस्थिता ।
धेनुरूपेण सा देवी मम पापं व्यपोहतु ॥
नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च ।
नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः ॥

'जो सब प्राणियोंकी भूति, लक्ष्मी है, जो सभी देवताओंमें विद्यमान है, वह गो-रूपिणी देवी हमारे पापोंको दूर करे ! लक्ष्मीरूपिणी गौओंको नमस्कार ! सुरभि-कामधेनुकी संतानोंको नमस्कार ! ब्रह्मपुत्री गौओंको नमस्कार ! सब प्रकार पवित्र कर देनेवाली गौओंको बार-बार नमस्कार !!

(गो-सावित्री-स्तोत्र)

कल्याण

जिसके मनमें—प्रेम, सत्य, दया, आनन्द, सरलता, समता आदि गुण भरे हैं वही यथार्थमें सुन्दर है, चाहे वह देखनेमें बदसूरत ही क्यों न हो। और जिसके मनमें—वैर, असत्य, क्रूरता, विषाद, कपट, विषमता आदि दोष भरे हैं, वह देखनेमें परम सुन्दर होनेपर भी यथार्थमें कुरूप है, अतएव मनमें दैवी गुणोंको भरनेकी चेष्टा करो।

जिसका मन वशमें है, वही यथार्थमें स्वाधीन है। देहका बन्धन बन्धन नहीं है, असली बन्धन है मनका बन्धन। एक आदमी देहसे स्वतन्त्र है, परंतु यदि वह मनके अधीन है तो उसे सर्वथा पराधीन ही समझना चाहिये। मनपर विजय प्राप्त करनेवाला ही यथार्थ विजयी है। अतएव मनको वशमें करो।

मनको वशमें करनेके लिये यदि तुम्हें विधि या नियमोंके बन्धनमें रहना पड़े तो अपना सौभाग्य समझो, यह बन्धन ही तुम्हें मनकी गुलामीसे मुक्त करेगा। उच्छृङ्खलता बन्धनकी गाँठोंको और भी कस देती है, अतएव नियमोंकी शृङ्खलामें बँधे रहनेमें ही मङ्गल समझो। जिसके मनमें भगवान्‌के प्रति भक्ति है, वही यथार्थ भक्त है, बाहरी आडम्बरवाला नहीं। भगवान् मनपर ध्यान देते हैं, वेशपर नहीं, इसलिये मनसे भगवान्‌की भक्ति करो, दुनियाके लोग चाहे तुम्हें भक्त न मानें।

किसीके साथ किसी बातको लेकर कुछ अनबन हो जाय और बर्तावमें कोई दोष आ जाय तो फिर उसके साथ अच्छा बर्ताव करनेके लिये इस बातकी बाट न देखो कि पहले वह मुझसे अच्छा बर्ताव करे। सम्भव है, वह भी इसी प्रकार तुमसे अच्छे बर्तावकी प्रतीक्षा करता हो। ऐसी अवस्थामें तुम कभी अच्छा बर्ताव कर ही नहीं सकोगे। अतएव अपनी ओरसे पहलेसे ही अच्छा बर्ताव करना आरम्भ कर दो। तुम्हारे बर्तावसे उसपर असर पड़ेगा और वह भी अच्छा बर्ताव करने लगेगा।

किसीका उपकार करके उसे जतानेकी इच्छा न करो, उपकार जितना गुप्त रहेगा उतना ही वह अधिक मूल्यवान् होगा। जता देनेसे उपकारकी कीमत घट जाती है और उपकार पानेवालेको कभी-कभी बड़े संकोचमें पड़ना पड़ता है।

जो जितना कम बोलता है उससे उतने ही कम मिथ्या बोले जाने और परनिन्दा होनेकी गुंजाइश रहती है। मिथ्या और निन्दा बड़े पाप हैं, अतएव वाणीका संयम करके इन्हें यथासाध्य कम करो।

जो संसारके विषयोंपर जितना कम सोचता है और जितना कम बोलता है, वह आध्यात्मिक मार्गपर उतना ही शीघ्र आगे बढ़ सकता है। इसलिये जहाँतक बने चित्तमें जगत्‌के प्रपञ्चोंको बहुत ही कम आने दो और बिना आवश्यकताके जीभको कभी न खोलो। कम-से-कम बुद्धिमान् कहलाने मात्रके लिये तो कभी न बोलना ही अच्छा है।

विषयचिन्तन सर्वनाशकी जड़ है और भगवच्चिन्तन दुःखोंसे छूटनेका मूलमन्त्र है। बड़ी सावधानीसे मनसे विषयोंके चिन्तनको हटाते रहो और निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करो। ज्यों-ज्यों विषयचिन्तन कम होकर भगवच्चिन्तन बढ़ेगा, त्यों-त्यों ही तुम शान्ति और सुखके समीप पहुँचोगे। विषयचिन्तन सदाचारीको भी पापके पङ्कमें डाल देता है और भगवच्चिन्तन अत्यन्त दुराचारीको भी शीघ्र ही साधु भक्त बना देता है।

—श्रीभाईजी

भगवत्प्राप्तिसे ही क्लेशकी निवृत्ति

(अनन्तश्रीविभूषित पूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

अनेकार्थपरिप्लुत भवार्णवमें पड़े हुए प्राणीके लिये भगवच्चरणोंका आश्रय ही क्लेशसंतरणकी सुखद नौका है। एकमात्र भगवत्प्राप्तिमें ही प्राणीको सुख-शान्ति है। यद्यपि काकभुशुण्डि, हनुमान्‌जी, जाम्बन्तजी आदिने कौवे, वानर, भालु आदि योनियोंमें भी प्रभुको प्राप्त किया, तथापि ये सभी उदाहरण अपवादरूप ही हैं। शास्त्रोंके अनुसार केवल मनुष्य-शरीर ही भगवत्प्राप्तिका प्रमुख द्वार है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा······························॥

(मानस ७। ४३। ४)

इत्यादि।

शास्त्रोंमें मनुष्य-शरीरको 'ब्रह्मावलोकसक्षम' कहा गया है। भागवतमें आता है कि 'पहले प्रजापति ब्रह्माने वृक्ष, सरीसृप, पशु, खग, दंश, मत्स्यादि अनेक पुरियों, शरीरोंकी सृष्टि की, किंतु इससे उन्हें संतोष न हुआ। अन्तमें उन्होंने मनुष्य-शरीरका निर्माण किया और यह देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई कि वह परमात्मसाक्षात्कारमें समर्थ है'—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥

(११। ९। २८)

श्रीभगवान्‌के वचनोंके अनुसार नियन्त्रित रूपसे स्वनुष्ठित कर्मधर्मको भगवच्चरणोंमें समर्पित कर उससे उनकी अर्चना कर मनुष्य परासिद्धि या परम लक्ष्य (भगवच्चरणों)को प्राप्त करता है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

कई लोग तो ऐसी धारणा करते हैं कि हम जो कुछ भी कर्म करते हैं, उसे हम अर्पण कर देंगे तो कर्म-बन्धनसे छुट्टी मिल जायगी। यद्यपि कुछ भक्त-भागवतोंकी यह दुर्बल-सी प्रार्थना कि—

यन्मया क्रियते कर्म जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु।
तत्सर्वं तावकी पूजा भूयाद् भूत्यै च मे विभो॥

ठीक है, पर उन्हें भी सावधान रहना चाहिये। ज्ञानाग्निमें जलानेके भरोसे पापार्जन या पापकर्मको भगवदर्पणकी बात नहीं सोचना चाहिये। कहते हैं—एक बार भीमसेन भगवान् कृष्णको अश्वमेधयज्ञमें निमन्त्रण देनेके लिये द्वारका पहुँचे। जब भगवान् श्रीकृष्णने पूछा कि तुम यह यज्ञ क्यों कर रहे हो तो भीमने कहा कि महाभारत-युद्धमें हिंसादि पापोंको दूर करनेके लिये। इसपर भगवान् श्रीकृष्णने कहा—भीमसेन! लगता है तुम्हारी बुद्धि अत्यधिक भोजन तथा राक्षसीके सम्पर्कसे कुछ दूषित हो गयी है। कहीं कीचड़से कीचड़ छूटता है—

छूटै मल कि मलहिं के धोए। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोए॥

अथवा—

यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम्।
भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति॥

—के अनुसार भी यह ठीक नहीं दीखता, अतः तुमलोग अपने पापोंको मुझे समर्पित कर निश्चिन्त हो जाओ।

इसपर भीमने कहा कि 'महाराज! लगता है, आप सभी लोग मुझे नितान्त मूर्ख ही समझते हैं। पर मैं भी कुछ शास्त्र जानता हूँ। वेदोंके अनुसार असली 'अत्ता' (भक्षक) तो चराचर-भक्षणसे आप ही प्रसिद्ध हैं—'अत्ता चराचर-ग्रहणात्।' (ब्रह्मसूत्र १। २। ९)

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥

(कठोपनिषद् १। २। २५)

'आप तो मौततकको कढ़ी बनाकर चट कर जाते हैं। अतः मुझे सर्वथा मूर्ख न मानें। आपको यदि पाप अर्पण किया गया तो वह कोटिगुणा होकर प्रतिफलित होगा। अतः शुद्ध कर्म-धर्म ही आपको अर्पणीय हैं। अब आप यज्ञमें पधारनेकी कृपा करें।' अतः वर्णानुसारी धर्म-कर्म ही आचरणीय एवं भगवान्‌को समर्पणीय हैं।

अब कुछ लोग पुरुषसूक्तमें पुरुषका अर्थ समाज करते हैं और उसे ही सब कुछ मानते हैं। पर यह ठीक नहीं। समाजका महत्त्व भी है, पर वहाँ तो पुरुष परमात्मा ही है। उसीसे विश्वकी उत्पत्ति हुई है और वही प्राणीको सत्कर्मोंद्वारा मोक्षप्रदानमें समर्थ है। समाज धारणके लिये भी गौ, संत, विद्वान्, सती, सत्यवादियोंकी आवश्यकता है। आज लोग कहते हैं कि ट्रैक्टर, खाद एवं डाल्डा आदिसे जब काम चल जाता है तो हम गाय, गोदुग्ध, घृत, दधि एवं गोबर आदिके खादोंके पचड़ेमें क्यों पड़ें? पर डाल्डा एवं गोघृतका अन्तर स्पष्ट है। गोदुग्धकी समता नकली दूध नहीं कर सकता और खादोंद्वारा यद्यपि बलपूर्वक पृथ्वीसे कुछ वर्ष अधिक अन्न पैदा हो जायगा, किंतु वैज्ञानिकोंके मतानुसार इस प्रकार वहाँकी पृथ्वी कुछ ही वर्षोंमें मरुस्थल बन जायगी।

पुरुषसूक्त हो या वेद-शास्त्रका अन्य अंश, उसके सच्चे ज्ञानके लिये हृदय, मन, बुद्धि एवं शरीरकी शुद्धि परमावश्यक है। तन-मनकी शुद्धिके बिना तत्त्वार्थका दर्शन नहीं होता। महाभारत आदिपर्वमें उत्तङ्क मुनिकी कथा आती है। विद्याधिगमनोपरान्त उत्तङ्कने अपने गुरु आयोद-धौम्यसे दक्षिणार्थ प्रार्थना की। उन्होंने इसकी अनावश्यकता बतलायी, पर उत्तङ्कके बार-बार आग्रहपर उन्होंने इसे गुरुपत्नीसे पूछनेको कहा। गुरुपत्नीने उनसे राजा पौष्यकी स्त्रीके दिव्य कुण्डलोंकी इच्छा की। पर यात्रा बड़ी बीहड़ थी। मार्गमें धर्मने वृषरूपमें इन्हें दर्शन देकर अमृतस्वरूप गोमयका भक्षण कर सफलताका मार्ग बतलाया। पर इन्होंने गोमयभक्षणके बाद शीघ्रतापूर्वक खड़े-खड़े आचमन कर लिया और पौष्यके यहाँ पहुँचकर कुण्डलकी याचना की। पौष्यने रानीसे माँगनेको कहा। पर उत्तङ्कको अन्तःपुरमें पतिव्रता रानीके दर्शन ही न हुए और लौटकर उन्होंने राजाको बड़ा उपालम्भ दिया। राजाने कहा—'महाराज! रानी कहाँ जायगी? यही लगता है कि आपका शरीर अशुद्ध है। कहीं आप उच्छिष्टमुख तो नहीं हैं?' इसपर उत्तङ्कको—

> त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्।
> खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च॥
> अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित्।
> शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः॥
> हृद्गाभिः पूयते विप्रः। इत्यादि (मनु० २।६०—६२)

—की स्मृति हुई और एकान्तमें बैठकर उन्होंने विधिपूर्वक आचमन किया। इसके बाद पुनः अन्तःपुरमें जानेपर उन्हें रानीके दर्शन हुए और वे कृतकार्य होकर गुरुपत्नीको कुण्डल प्रदानकर अपने घर गये। जब उन दिनोंके ऐसे पवित्रव्रती ब्रह्मचारीको तनिक अशुद्धिके रहते एक पतिव्रता रानीका दर्शन अशक्य था, तब आजके नास्तिक लोगोंको तो (जिन्हें आत्माका अर्थतक भी ज्ञात नहीं है,) प्रेत, पिशाचका भी दर्शन असम्भव है, परमात्मदर्शन और ब्रह्मदर्शन कैसे होगा? तभी तो आजके लोग पुरुषसूक्तमें समाजसे जातिकी उत्पत्ति, जातिवादताका विरोध और फिर जातिवादको ही प्रश्रय देकर समाजमें विचित्र कलहकी स्थिति पैदा कर रहे हैं। अत्यन्त श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक भगवत्प्रार्थना, गायत्रीजप और नामजपसे ही बुद्धि शुद्ध होकर आत्मशान्ति, परमात्मदर्शन, विश्व-शान्ति एवं विश्वका कल्याण होगा। अतः श्रद्धापूर्वक एवं नियन्त्रित ढंगसे ही यज्ञादिका अनुष्ठान एवं विश्वशान्तिके लिये प्रयत्न किये जाने चाहिये। (गोरखपुरके सहस्रचण्डी महायज्ञमें दिये गये भाषणका सारांश, संग्राहक जा० ना० श०)

हमारा लक्ष्य और कर्तव्य

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृत-वचन)

मनुष्य सबसे श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। वह अपनेको श्रेष्ठ समझता है और विचार करनेपर यह सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने उसकी रचनामें विशेषता रखी भी है; परंतु वह वास्तवमें श्रेष्ठ तभी है, जब कि अपने जीवनके प्रधान लक्ष्यको ध्यानमें रखकर अपना कर्तव्य-पालन करता है। आजके संसारकी ओर देखते हैं तो माल्रम होता है कि लक्ष्यको जानकर कर्तव्य-पालन करना तो दूर रहा, लक्ष्य और कर्तव्य क्या है, इस बातको भी प्रायः लोग नहीं जानते और न जानना चाहते ही हैं। पर दोनोंको जानना मनुष्यके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह शास्त्रोंसे, शास्त्रोंके वाक्य न समझमें आवें तो किन्हीं भगवत्प्राप्त पुरुषसे, वैसे पुरुष न मिलें तो धर्मके जानकार धर्मका आचरण करनेवाले किसी धार्मिक पुरुषसे, वे भी न मिलें तो अपनी समझसे जो धर्मका जाननेवाला जान पड़े उसीसे पूछकर अपने कर्तव्यको जान ले। कुछ भी न हो, तो कम-से-कम अपने अन्तरात्मासे तो पूछते ही रहना चाहिये। एक आदमी कहता है—'सत्य बोलना धर्म है', दूसरा कहता है—'धर्म-कर्म कुछ भी नहीं है।' ऐसी अवस्थामें अपने अन्तरात्मासे पूछना चाहिये। बुद्धिसे कहना चाहिये कि वह निष्पक्षभावसे अपना मत जनावे। ऐसा किया जायगा तो अन्तरात्मा-की आवाज या बुद्धिका निर्णय यही मिलेगा कि 'सत्य बोलना ही ठीक है'; क्योंकि सत्य सभीको प्रिय है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, अहिंसादि अन्यान्य प्रसङ्गोंपर भी विचार करना चाहिये और अन्तरात्माका या बुद्धिका निर्णय प्राप्त हो जानेपर तदनुसार आचरणके लिये तत्पर होना चाहिये। ऐसे निर्णयको पाकर भी जो तदनुसार नहीं करते, वे अपना पतन आप ही करते हैं। अच्छी बात समझकर भी उसका पालन न करे और बुरी समझकर भी उसका त्याग न करे, उसका पतन अवश्य ही होना चाहिये। श्रीभगवान् कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
(गीता ६ । ५)

'मनुष्यको चाहिये कि वह अपने द्वारा संसार-समुद्रसे अपना उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।'

हमें जो राग-द्वेष, शोक-भय आदि होते हैं, वे क्यों होते हैं? लोग समझते हैं कि प्रारब्धसे होते हैं; परंतु बात ऐसी नहीं है। ये सब होते हैं अज्ञानसे। राग-द्वेष ही शोक-भयमें कारण हैं और राग-द्वेष ही क्लेश हैं। अविद्या यानी अज्ञान ही इनका हेतु है। अविद्याका नाश होते ही इन सबका नाश अपने-आप ही हो जाता है।

धन प्राप्त होना या नष्ट हो जाना, बीमारी होना या स्वस्थ हो जाना और जन्म होना या मर जाना आदि-आदि—इन सबमें तो प्रारब्ध हेतु है; परंतु चिन्ता, भय, शोक, मोह आदिमें तो अज्ञान ही प्रधान कारण है। अज्ञानका नाश होनेपर शोक-मोह नहीं रहते। श्रुति कहती है—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।'
(ईशावास्योप० ७)

'हर्षशोकौ जहाति' (कठ० १ । २ । १२)

शोकादिमें यदि प्रारब्ध हेतु होता तो भगवान् अर्जुनके प्रति यह कैसे कहते कि—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥
(गीता २। ११)

'तू शोक न करने योग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है। परंतु जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते।'

अज्ञानका नाश ज्ञानसे होता है। हमें साधन करके उस ज्ञानको प्राप्त करना चाहिये, जिससे शोक-मोह, चिन्ता-भय, चोरी-व्यभिचार, झूठ-कपट और आलस्य-अकर्मण्यता आदि दोषोंका सर्वथा नाश हो जाय। ज्ञान होनेपर अज्ञानका कार्य रह नहीं सकता। इसे एक उदाहरणसे समझिये—बड़ी अच्छी रसोई बनी है, मिठाई बहुत ही स्वादिष्ट है, हम बड़े चावसे खानेको बैठे हैं। दो ही ग्रास लिये थे कि एक मित्रने चुपकेसे आकर सूचना दी कि मिठाईमें जहर है खाना मत। बस, इतना सुनते ही हम मुँहका ग्रास उसी क्षण थूक देते हैं, थाली दूर हटा देते हैं और पेटमें गये हुए ग्रासको भी जल्द वमन करके वापस निकालनेकी चेष्टा करते हैं। जहरका ज्ञान हो जानेपर पदार्थ कितना ही मधुर और स्वादिष्ट क्यों न हो हम अब उसे नहीं खा सकते। मित्रकी बातपर विश्वास जो ठहरा, उसने जो बतलाया सो ठीक ही बतलाया है। बस, यही हाल संसारके भोगोंका है। हम यदि शास्त्र, भगवान् या सत्पुरुषोंकी वाणीपर विश्वास कर लें तो फिर इन भोगोंमें कभी मन न लगावें। भगवान् स्वयं कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमता।'

इतना जानकर भी यदि मनुष्य इन्हींमें मन लगाता है तो वह महान् मूर्ख है। तुलसीदासजी महाराज भी कहते हैं—

नर तनु पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

लोग कह सकते हैं कि विषका असर तो तुरंत होता है; परंतु इसका कोई असर नहीं दिखलायी पड़ता। इसका उत्तर यह है कि विष भी कई प्रकारके होते हैं। ऐसे विष भी होते हैं, जिनका असर पड़ता तो है धीरे-धीरे, परंतु पड़ता है बड़ा ही भयानक। भोग ऐसे ही धीरे-धीरे असर करनेवाला भयानक मीठा विष है।

इसलिये राजस विषय-सुखको भगवान्ने परिणाममें विषतुल्य बतलाया है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
(गीता १८। ३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है। इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।'

यदि कहा जाय कि 'हमलोग तो बहुत विष खा चुके हैं, इसके लिये क्या उपाय करें' तो उपाय बहुत हैं। पहले खाया हुआ विष निकाला भी जा सकता है और पचाया भी। अच्छे वैद्य इसका उपाय बतला सकते हैं, परंतु पहले यह विश्वास भी तो हो कि यह वस्तुतः विष है। विश्वास होता तो कम-से-कम

भविष्यमें तो विष खाना बंद हो ही जाता। जब खाना उसी प्रकार चालू है, तब कैसे माना जाय कि हमने भगवान्‌के वचनोंपर विश्वास करके इन्हें दुःख-दायी और विष मान लिया है ?

सुनते हैं, पढ़ते हैं, परंतु विश्वास नहीं होता। पूरा विश्वास होनेपर मनुष्य बिना उपाय किये रह ही कैसे सकता है ? विश्वास ही विषनाशक साधनके लगनकी आधारभूमि है। सच्ची लगन कैसी होती है ?

> लगन लगन सब कोइ कहै, लगन कहावै सोय।
> नारायन जेहिं लगनमें तन-मन डारे खोय ॥
> जो सिर काटे हरि मिले तो हरि लीजे दौर।
> ना जाने या देरमें गाहक आवै और ॥

परंतु इस विष-सेवनका त्याग तो करना ही चाहिये और शीघ्र ही करना चाहिये; क्योंकि विलम्ब होनेसे रक्षा कठिन हो जायगी। जबतक मृत्यु दूर है, देहमें प्राण है, तभीतक शीघ्र-से-शीघ्र उपाय कर लेना चाहिये। यह नहीं सोचना चाहिये कि अभी क्या है, कुछ दिन बाद कर लेंगे। कौन जानता है, मृत्यु कब आ जायगी। दीर्घजीवनका पट्टा थोड़े ही है। इधर विष तो लगातार चढ़ ही रहा है। रातको ही मौत आ गयी तो फिर क्या होगा ? अतएव इसी क्षण-से जग जाना चाहिये और लग जाना चाहिये पूरी लगनसे।

हमारा लक्ष्य होना चाहिये—परमात्माकी प्राप्ति, क्योंकि परमात्मा ही एकमात्र परम सुख और शाश्वती शान्तिके केन्द्र हैं, वे ही सर्वश्रेष्ठ और सबसे बढ़कर प्राप्त करने योग्य परम वस्तु हैं, उनकी प्राप्तिमें ही जीवनकी पूर्ण और यथार्थ सफलता है तथा इस परम लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये सतत प्रयत्न करना ही मनुष्यजीवनके कर्तव्यका पालन करना है। इस कर्तव्य-पालनमें जो कुछ भी त्याग करना पड़े वही थोड़ा है। बस, त्यागकी तैयारी होनी चाहिये, फिर शास्त्र कहते हैं कि परमात्मा मिल सकते हैं और उनका मिलना भी सहज ही है तथा यह भी विश्वास रखना चाहिये कि हम परमात्माकी प्राप्तिके अधिकारी हैं। तभी तो भगवान्‌ने मनुष्य-शरीर दिया है। दूसरी योनियोंकी कमी तो थी नहीं, पशु, पक्षी, रीछ, बन्दर कुछ भी बना सकते थे। फिर उन्होंने हमको 'मनुष्य' क्यों बनाया ? इसीसे सिद्ध है कि हम इसके अधिकारी थे। भगवान्‌ने हमें मुक्तिका पासपोर्ट दे दिया है। अब जो कुछ कमी है, वह केवल हमारी ही ओरसे है। उन्होंने मनुष्य-शरीर देकर हमें मुक्तिका अधिकारी बना दिया। हम यदि अब प्रमाद और पाप करें तो हमारी बड़ी भारी मूर्खता है। ऐसे ही मूर्खोंके लिये भगवान् कहते हैं—

> **तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।**
> **क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥**
> (गीता १६। १९)

'ऐसे उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ।'

> **आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।**
> **मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥**
> (गीता १६। २०)

'हे अर्जुन ! जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त वे मूढ़ पुरुष मुझको न प्राप्त होकर अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं, अर्थात् घोर नरकमें पड़ते हैं।'

पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंके लिये आसुरी योनि और नरकोंका विधान तो ठीक ही है। परंतु भगवान्‌ने जो 'मुझे न प्राप्त होकर' कहा, इसका क्या रहस्य है ? ऐसे पापियोंके लिये भगवत्प्राप्तिकी बात ही कैसी ? सरकारका यह कहना तो ठीक है कि अमुक चोर है, बदमाश है, उसे बार-बार जेलमें

और कालेपानीमें भेजना है। परंतु उसे राज्य न देकर जेलमें भेजना है, इस कथनका क्या अभिप्राय है ? बात यह है कि भगवान् जब किसी जीवको मानव-शरीरमें भेजते हैं तो उसे मुक्तिका अधिकार देकर ही भेजते हैं और वह मुक्तिका अधिकार प्राप्त करके आया हुआ जीव जब भगवान्को भूलकर—अपने जन्मसिद्ध अधिकारकी उपेक्षा कर पाप करता है और पुनः नरकोंमें जाने योग्य बन जाता है, तब मानो भगवान् खेद प्रकट करते हुए-से कहते हैं कि देखो, इसको मैंने अपनी प्राप्तिका अधिकार देकर भेजा था, परंतु आज इसे नरकमें भेजनेकी व्यवस्था करनी पड़ती है, इससे बढ़कर खेदकी बात और क्या होगी ?

जैसे किसी राजाके पुत्रका राज्यपर जन्मसिद्ध अधिकार होता है, परंतु उस समय वह नाबालिग होनेके कारण राज्यशासनके योग्य नहीं समझा जाता। राजा स्वयं ही राज्यकी समस्त व्यवस्था करता है और राजकुमारके बालिग होनेपर उसे सारे अधिकार सौंप देनेकी इच्छा रखता है, परंतु वह यदि अयोग्य निकलता है तथा बुरी संगतमें पड़कर ऐसे नीच कर्म कर बैठता है, जिनके फलस्वरूप, प्रजाका विनाश होता है तो ऐसी परिस्थितिमें जन्मसिद्ध स्वत्व होनेपर भी उसे राज्याधिकारसे वञ्चित कर दिया जाता है; इतना ही नहीं, प्रत्युत उसे और भी दण्ड दिया जाता है और उसे दण्ड देते समय जैसे राजा पश्चात्ताप करता है, ठीक वैसी ही बात मनुष्योंके लिये भी है। मनुष्यको परमात्माकी प्राप्तिका जन्मसिद्ध अधिकार है। तथापि अपनी अयोग्यता और विपरीताचरणके कारण उसे अपने अधिकारसे वञ्चित रहकर उल्टा दण्ड-भोग करना पड़ता है। इससे अधिक उसका दुर्भाग्य और क्या होगा ? इसीलिये भगवान्ने उपर्युक्त श्लोकमें 'मुझे न प्राप्त होकर' नीच गतिको प्राप्त होते हैं, ऐसा कहा है।

वस्तुतः यह हमारे लिये बड़े ही परिताप और लज्जाकी बात है कि इस प्रकार हम दयालु भगवान्की दयाका तिरस्कार कर अपने मानव-जीवनको व्यर्थ खो रहे हैं। यही मानवजीवनकी सबसे बड़ी विफलता है और यही मनुष्यकी सबसे बड़ी भूल है। भगवान् कहते हैं—'जल्दी चेतो, कालका भरोसा करके विषयभोगोंमें जरा भी मत फँसो। यह मत समझो कि शरीर सदा रहेगा, यह भी मत समझो कि मुझे भूलकर तुम इसमें कहीं भी सुखकी तनिक छाया भी पा सकोगे। यह मनुष्य-शरीर तो मैंने तुम्हें विशेष दया करके दिया है, अपनी ओर खींचकर परमानन्दरूप परमधाममें ले जानेके लिये। यह बड़ा ही दुर्लभ है। परंतु यह है—अनित्य, क्षणभङ्गुर और जो मुझको भूल जाता है, उसके लिये नितान्त सुखरहित भी। इसको प्राप्त होकर तो बस, निरन्तर प्रेमपूर्वक मेरा भजन ही करो। तभी तुम जीवनके परम लक्ष्यरूप मुझको प्राप्त करके धन्य हो सकोगे।'

मोह-आवरण

काया हरि कै काम न आई।
भाव भक्ति जहँ हरि जस सुनियत, तहाँ जात अलसाई॥
लोभातुर ह्वै काम मनोरथ, तहाँ सुनत उठि धाई।
चरन कमल सुंदर जहँ हरि के, क्यौंहुँ न जात नवाई॥
जब लगि स्याम अंग नहिं परसत, अंधे ज्यौं भरमाई।
सूरदास भगवंत भजन तजि, विषय परम विष खाई॥

—श्रीसूरदासजी

त्यागका स्वरूप और साधन

(नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

शास्त्रोंकी ऐसी घोषणा है और सभी विचारशील पुरुष इस बातको स्वीकार करते हैं कि मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है। संसारमें बहुत-से लोग इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये यत्किंचित् चेष्टा भी करते हैं, परंतु ऐसे सौभाग्यशाली पुरुष बहुत थोड़े होते हैं जो शीघ्र ही लक्ष्यको प्राप्त कर सकते हों। शास्त्रकारोंने और अनुभवी संतोंने भगवत्प्राप्तिके मार्गमें कई विघ्न ऐसे बतलाये हैं जिनको पार किये बिना भगवान्‌की प्राप्तिके मार्गपर आगे बढ़ना बहुत ही कठिन है। उन विघ्नोंमें प्रधान विघ्न है—अहंकार, ममता, कामना और आसक्ति। अज्ञान या मोह तो इन सबका मूल कारण ही है। अज्ञानके नाशसे इन सबका नाश अपने-आप हो जाता है। अज्ञान कहते हैं न जाननेको। अज्ञान यानी भगवान्‌के स्वरूपका न जानना। जिनको भगवान्‌के स्वरूपकी जानकारी हो जाती है, वे इन सारे विघ्नोंको सहज ही पार कर जाते हैं। बल्कि उनके लिये इन विघ्नोंका सर्वथा नाश ही हो जाता है। परंतु जबतक अज्ञान-नाश न हो, जबतक भगवान्‌के तत्त्व-स्वरूपकी जानकारी न हो, तबतक क्या हाथ-पर-हाथ धरे यों ही बैठे रहना चाहिये? नहीं। आसक्ति, कामना, ममता और अहंकारका प्रयोग बुद्धिमानीपूर्वक भगवान्‌में करना चाहिये। आदर्श ऐसा होना चाहिये कि एकमात्र श्रीभगवान्‌में ही आसक्ति हो, एकमात्र श्रीभगवान्‌को पानेकी ही अनन्य कामना हो, एकमात्र श्रीभगवच्चरणोंमें ही अहैतुकी ममता हो और एकमात्र श्रीभगवान्‌के दासत्वका ही भक्तहृदयमें शान्ति-सुधा बरसानेवाला आदरणीय अहंकार हो। इस प्रकार इन चारोंके दिशा-परिवर्तनका अभ्यास करनेसे क्रमशः इनका दूषित रूप नष्ट होता जायगा। तब ये मोहके पोषक न होकर उसका नाश करनेमें सहायता देंगे और ज्यों-ज्यों मोहका नाश होगा, त्यों-त्यों भगवान्‌के स्वरूपकी जानकारी होगी, और ज्यों-ज्यों भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान होगा, त्यों-त्यों एकमात्र उन्हींके साथ इन चारोंका सम्बन्ध बढ़ जायगा। फिर तो इनका नाम भी बदल जायगा और इन्हें विशुद्ध अव्यभिचारिणी भक्तिके रूपमें पाकर भक्त कृतार्थ होगा। उस भक्तिके द्वारा भगवान्‌की यथार्थ जानकारी—भगवत्तत्त्वका सम्यक् ज्ञान होगा और उस ज्ञानका प्रादुर्भाव होते ही भक्त अपने भगवान्‌का साक्षात्कार प्राप्त करके कृतार्थ हो जायगा।

विषयोंके दुःख-दोषभरे भयंकर स्वरूपका और भगवान्‌के चिदानन्दमय अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यका—भगवान्‌के स्वरूपका, स्वभावका हमें ज्ञान नहीं है, इसीसे हमारी चित्तवृत्तियोंकी प्रवृत्ति भगवान्‌की ओर न होकर विषयोंकी ओर हो रही है। यदि श्रीभगवान्‌की परमानन्दरूपता और विषयोंकी भयानकतापर वस्तुतः विश्वास हो जाय तो मनुष्यका मन विषयोंकी ओर कभी नहीं जाय। आज यदि किसीसे कहा जाय कि तुम्हें सौ रुपये दिये जायँगे, तुम एक तोला अफीम या थोड़ा-सा संखिया खा लो, तो कोई भी खानेको तैयार नहीं होगा, क्योंकि अफीम और संखिया खानेसे मृत्यु हो जायगी, इस बातपर उसका शङ्कारहित निश्चित विश्वास है। भगवान्‌ने कहा है—'यह लोक अनित्य और असुख (सुखरहित) है अथवा यह जन्म अनित्य और दुःखालय है, इसे पाकर तुम मुझको ही भजो।'

यदि भगवान्‌के इस कथनपर शङ्कारहित निश्चित विश्वास होता और यदि इन वचनोंके अनुसार जगत्‌के विषय हमें यथार्थमें दुःखरूप और अनित्य जान पड़ते

तो हम उनमें क्यों रमते ? और यदि भगवान्के अखिल-आनन्दसुधासिन्धु स्वरूपपर जरा भी विश्वास होता तो हम क्यों उसकी उपेक्षा करते ? परंतु ऐसा करते हैं, इसलिये यही सिद्ध होता है कि हम पढ़ते, सुनते और कहते तो हैं, परंतु यथार्थमें हमें इन बातोंपर पूरा विश्वास नहीं है। इसीसे हम इन बातोंकी परवा न करके विषयोंकी ओर दौड़ रहे हैं और जैसे दीपककी ज्योतिके रूप मोहमें फँसकर उसकी ओर जानेवाला पतंग जलकर भस्म हो जाता है, उसी प्रकार हम भी भस्म हो जाते हैं!

हमारी वृत्तियाँ सदा ही बहिर्मुखी रहती हैं, विषयोंमें—कार्यजगत्में ही लगी रहती हैं। इसमें जहाँ-जहाँ हमें इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाले पदार्थ दीख-सुन पड़ते हैं, वहाँ-वहाँ ही हमारा चित्त जाता है। हम उन्हींमें सुख खोजते हैं, परंतु यह नहीं जानते कि दिनके साथ रातकी तरह इस सुखका सहचर दुःख सदा इसके साथ रहता है। हम सुख चाहते हैं और दुःखसे बचना चाहते हैं, इसीलिये हमें दुःख भोगना पड़ता है, यदि वास्तवमें हमें दुःखसे बचना है तो सुखकी स्पृहा भी छोड़ देनी पड़ेगी। हम उस परम सुखको तो चाहते नहीं जो सदा रहता है, जो कभी घटता-बढ़ता नहीं, जो असीम और अनन्त है। हम तो चाहते हैं क्षणिक इन्द्रियसुखको, जो वास्तवमें है नहीं केवल भ्रमसे भासता है और बिजलीकी भाँति एक बार चमककर तुरंत नष्ट हो जाता है। परंतु हम अबोध इस बातको जानते नहीं, इसीसे उसके पीछे पड़े रहते हैं और एक दुःखके गड्ढेसे निकलकर तुरंत ही दूसरा गहरा गड्ढा खोदने लगते हैं।

इस इन्द्रियसुखके प्रधान साधन माने गये हैं—दो पदार्थ। एक 'स्त्री' और दूसरा 'धन'। इसीलिये शास्त्रोंने बड़े जोरोंसे इनकी बुराइयोंकी घोषणा करके कामिनी-काञ्चनके त्यागका बार-बार उपदेश किया है। बात यह है कि विषयासक्त मनुष्यकी बहिर्मुखी इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही आपातरमणीय विषयोंकी ओर दौड़ती हैं। कामिनी-काञ्चनमें रमणीयता प्रसिद्ध है। इनकी ओर लगनेके लिये किसीको उपदेश नहीं करना पड़ता। इन्द्रियाँ अपने-आप ही मनको इनकी ओर खींच ले जाती हैं। जगत्के इतिहासको देखनेसे पता लगता है कि संसारके महायुद्धोंमें—भीषण नरसंहारमें 'कामिनी और काञ्चन' ही प्रधानतया कारण रहे हैं। यहाँ इतनी बात और याद रखनी चाहिये कि पुरुषके लिये जैसे स्त्री आकर्षक है वैसे ही स्त्रीके लिये पुरुष है। 'कामिनी' शब्दसे यहाँ केवल स्त्री न समझकर यौनसुख प्रदान करनेवाला व्यक्ति समझना चाहिये। स्त्रीके लिये पुरुष और पुरुषके लिये स्त्री। जैसे पुरुषका चित्त कामिनी-काञ्चनके लिये छटपटाया करता है, प्रायः उसी प्रकार स्त्रीका चित्त भी पुरुष और धनके लिये ललचता रहता है।

परिणाम नहीं जानते, इसलिये पुरुष नारीके सौन्दर्यपर और नारी पुरुषके सौन्दर्यपर मोहित होते हैं। और इसीलिये विलासिताका सामान एकत्र करनेकी अभिलाषासे नर-नारी धनकी ओर आकर्षित होते हैं। जैसे स्त्री या पुरुषके अधिक भोगसे धन, धर्म और जीवनी-शक्तिका नाश होता है, वैसे ही धनके लोभमें भी स्वास्थ्य, धर्म, कर्म और जीवनकी बलि देनी पड़ती है। एक बार इनकी प्राप्ति या संयोगमें कुछ सुख-सा दिखायी देता है, परंतु परिणाममें भयानक दुःख और अशान्तिकी प्राप्ति अनिवार्य होती है। जबतक इनका वास्तविक त्याग नहीं हो जाता तबतक कभी शान्ति नहीं मिलती। शान्तिकी प्राप्ति तो इनके सर्वतोभावके त्यागसे ही होती है।

परंतु क्या मनुष्यके लिये इनका त्याग सम्भव है? है तो फिर उस त्यागका स्वरूप क्या है और वह त्याग कैसे हो सकता है? संसारमें पुरुष हो या स्त्री, उसका

शरीर माता-पिताके रज-वीर्यसे ही बनता है पालन-पोषण भी माता-पिता या बहिन-भाई आदिके द्वारा ही होता है। इसी प्रकार सर्वत्यागी संन्यासीको भी कौपीन, फटे कंथे और भिक्षाकी आवश्यकता होती है। ऐसी परिस्थितिमें कोई भी स्त्री या धनका सर्वथा त्याग कैसे कर सकता है ?

इन प्रश्नोंका उत्तर यह है कि पहले त्यागके अर्थको समझना चाहिये। किसी वस्तुका ग्रहण या व्यवहार न करना बाहरी त्याग है और उस वस्तुमें आसक्तिहीन रहना भीतरी त्याग है। अब विचार कीजिये, हम एक चीजका त्याग कर देते हैं, परंतु मन-ही-मन उसकी आवश्यकता समझते हैं, उसका अभाव हमारे मनमें खटकता है और उसे प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। ऐसी हालतमें उस वस्तुका बाह्य त्याग वास्तविक त्याग नहीं है। असली त्याग तो वही है, जिससे उस वस्तुमें आसक्ति न रहे। जिस त्यागमें वस्तुका चिन्तन और आस्वाद मन-ही-मन होता है, वह त्याग वास्तविक नहीं है। अवश्य ही भोगमय जीवनकी अपेक्षा आन्तर त्यागके साधनरूपमें बाह्य त्याग सराहनीय है और आवश्यक भी है, उससे आन्तर त्यागमें सहायता मिलती है और त्यागीकी वृत्ति स्वाभाविकरूपमें बढ़ती है, परंतु असली त्याग तो आसक्तिका त्याग ही है। आसक्तिके त्यागसे द्वेष, भय, हर्ष, शोक आदिका भी स्वाभाविक त्याग हो जाता है। फिर आगे चलकर त्यागके अभिमान और त्यागकी स्मृति-का त्याग करना पड़ता है। यही त्यागका स्वरूप है और इस त्यागकी प्राप्ति आसक्तिके दोष और भगवान्के यथार्थ स्वरूपको जाननेसे होती है। यह सत्य है कि स्वरूपसे स्त्री और धनका त्याग सर्वांशमें होना कठिन है, तथापि शास्त्र इसीलिये इनके त्यागपर इतना जोर देते हैं कि सर्वथा त्यागकी बात कहनेसे ही मनुष्य इनका कहीं उचित रूपमें व्यवहाररूपमें ग्रहण करेंगे। मनसे तो त्याग होना ही चाहिये। बाह्य त्यागमें पुरुष-को चाहिये कि स्त्रीजातिमें देवीकी भावना करे—**'स्त्रियः समस्ताः तव देवि भेदाः'** और भगवती जानकर उन्हें मातृभावसे नमस्कार करे। स्त्रियोंको चाहिये कि पुरुषोंको पिता, भाई या पुत्रके रूपमें देखें। जहाँतक हो सके, किसी भी रूपमें स्त्री-पुरुषका परस्पर ज्यादा मिलना-जुलना लाभदायक नहीं है, जहाँ बहुत आवश्यक हो, वहाँ उपर्युक्त भावसे मिले। इसी प्रकार न्यायमार्गसे उतना ही धन उपार्जन करनेकी चेष्टा करे जिससे गृहस्थका कार्य सीधे-सादे रूपमें चल जाय। इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये और शरीरके आरामके लिये परमेश्वरको भूलकर, न्यायपथको त्यागकर, दूसरेको धोखा देकर, दूसरेका हक मारकर और असत्यका आश्रय लेकर धन-उपार्जन करनेकी चेष्टा कभी न करे।

अवश्य ही भगवान्की सृष्टिमें स्त्री और धनकी भी सार्थकता है। उसकी भी आवश्यकता है, परंतु वह होनी चाहिये परमार्थमें सहायकके रूपमें। यह भी नहीं समझना चाहिये कि परस्त्रीका तो त्याग करना होगा, किंतु पराये धनके त्यागकी उतनी आवश्यकता नहीं है। जैसे नीच कामवृत्तिका गुलाम होनेपर मनुष्य पशुसे भी अधम, नीच या असुर हो जाता है, वैसे ही अर्थलोभी या अर्थसंग्रही मनुष्य भी राक्षस हो जाता है। वह धन बटोरनेके लिये क्या नहीं करता ? गरीबोंके, दीन-दु:खियोंके तप्त अश्रुओंसे अपने भोग-विलासकी प्यास बुझानेवाला और पापमूलक धनका संग्रह करनेवाला मनुष्य राक्षस नहीं तो और क्या है ? अपने शरीरकी रक्षाके लिये जितना आवश्यक होता है, उतने ही अर्थपर वस्तुतः हमारा अधिकार है। श्रीमद्भागवत-में कहा है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥
(७।१४।८)

'जितनेसे पेट भरे उतनेपर ही मनुष्योंका अधिकार है, जो इससे अधिकको अपना मानता है, वह चोर है और उसे दण्ड मिलना चाहिये ।*

धन हो, उससे गरीब-दुखियोंकी सेवा करनी चाहिये । परंतु इस सेवामें भी अहंकार नहीं आना चाहिये । यही मानना चाहिये कि भगवान्‌की प्रेरणासे प्रेरित होकर भगवान्‌की चीजसे भगवान्‌की सेवा की जाती है ।

वास्तवमें कामिनी-काञ्चनकी क्षणभङ्गुरता, निःसारता और दुःखरूपताका निश्चय हो जानेपर तो इनमें मन रहेगा ही नहीं । फिर तो इनके त्यागमें एक विलक्षण आनन्द और शान्तिकी प्राप्ति होगी । और जिस त्यागमें आनन्द और शान्ति मिलती है, वही यथार्थ त्याग है ।

इनसे भी बढ़कर त्याग करने योग्य एक चीज और है—वह है कीर्तिकी इच्छाका त्याग । 'किसी प्रकारसे भी हमारी कीर्ति हो, लोग हमें उत्तम समझें, आज कोई चाहे न जाने, परंतु इतिहासमें हमारा नाम उज्ज्वल रहे । हमारा नाम न सही, हमारे वंशका, हमारी जाति या हमारे देशका नाम रहे । (यद्यपि ऐसी इच्छा व्यक्तिगत कीर्तिकी इच्छासे उत्तरोत्तर उत्तम है, क्योंकि इसमें कुछ त्याग है, भले ही इस सुकीर्तिके लिये स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्राण आदि किसी भी वस्तुका त्याग क्यों न करना पड़े ।) इस प्रकारकी कीर्तिकामनाका त्याग होना बहुत ही कठिन है । और जबतक इसका त्याग नहीं होता, तबतक बड़े-से-बड़े अनुष्ठान, पुण्यकर्म, साधन और तप इसके प्रवाहमें सहज ही बह जाते हैं । मनुष्य अपने जीवनभरका किया-कराया सब कुछ इस कीर्ति-पिशाचीके चक्रमें पड़कर नष्ट करता रहता है । वह प्रत्येक कामके करनेके पहले ही यह सोचता है कि इसमें मेरी कीर्ति होगी या नहीं, इसलिये उसे अकीर्तिकर कल्याणमय कर्मसे वञ्चित रहना पड़ता है और आगे चलकर ऐसा कीर्तिकामी पुरुष दम्भाचरणका आश्रय लेकर साधनके पथसे पतित हो जाता है । भगवान्‌की स्मृति छूट जाती है । भगवान्‌के स्थानपर हृदयमें बाहरसे बहुत ही सुन्दर सजी हुई कीर्तिकी कराल मूर्ति आ विराजती है और येन-केन प्रकारेण उसीकी सेवामें मनुष्यका बहुमूल्य जीवन व्यर्थ चला जाता है । इन सब प्रतिबन्धकोंका मूल है, मोहरूप विघ्न और उसके सहायक हैं उसीसे पैदा हुए पूर्वोक्त अहङ्कार, ममता, कामना और आसक्तिरूप दोष । इनका अपने पुरुषार्थसे सहसा त्याग होना बड़ा कठिन है । भगवत्कृपाके बलसे तो सब कुछ हो सकता है । भगवत्कृपा सबपर होते हुए भी उसका अनुभव विश्वासी और नामाश्रयी पुरुषोंको होता है । अतएव भगवान्‌का नाम लेते हुए भगवान्‌की कृपापर विश्वास करना चाहिये । भगवान्‌की कृपासे इन चारोंका मुँह विषयोंकी ओरसे घूमकर भगवान्‌की ओर हो जायगा । भगवान् अपनेमें ही सबका प्रयोग करा लेंगे । फिर तो गोपियोंकी भाँति हम भी कह सकेंगे—

स्याम सरबस तुम हमारे ।
तुम्हींसे जीवन हमारा तुम्हीं रक्षक हो हमारे ॥

* इससे बढ़कर 'कम्यूनिज्म'का दृष्टिकोण और क्या होगा ?

सीता और राम शब्दोंकी विशिष्टार्थता

(लेखक—पं० श्रीदेवदत्तजी शास्त्री, व्याकरणाचार्य, विद्यानिधि)

वन्दे विदेहतनयापदपुण्डरीकं
कैशोरसौरभसमाहृतयोगिचित्तम् ।
हन्तुं त्रितापमनिशं मुनिहंससेव्यं
सन्मानसालिपरिपीतपरागपुञ्जम् ॥

सीता-राम पदके घटक 'सीता' पदका अर्थ हराईसे उत्पन्न—(सीतोत्पन्ना) है, जिसका संक्षिप्त अभिधानरूप सीता प्रसिद्ध हुआ है। मैथिलकुलके राजयोगी जनकके यहाँ उत्पन्न जनकनन्दिनीके सम्बन्धकी अनुश्रुति इस प्रकार मिलती है—

एषा वेदवती नाम पूर्वमासीत् कृते युगे ।
त्रेतायुगमनुप्राप्य वधार्थं तस्य रक्षसः ॥
उत्पन्ना मैथिलकुले जनकस्य महात्मनः ।
सीतोत्पन्ना तु सीतेति मानुषैः पुनरुच्यते ॥

'यह सतयुगमें वेदवती नामकी कन्या थी। त्रेतायुगमें वही राक्षस (रावण)के वधके लिये मैथिलकुलमें महात्माजनकके यहाँ उत्पन्न हुई। यह 'सीता' अर्थात् हलकी पद्धति (हराई)से उत्पन्न हुई है, इसलिये लोग इसे 'सीता' कहते हैं।' इसी विषयको पद्मपुराणमें भी पुष्ट करते हुए कहा गया है—**'सीतामुखोद्भवत्वात् सीता इत्यस्या नाम चाकरोत्'**। वास्तविक नाम **'सीतोत्पन्ना'** है, परंतु **'विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वक्तव्यः'** इस वार्तिकसे 'उत्पन्ना' इस उत्तरपदका लोप होनेपर 'सीता' नाम हुआ। वस्तुतः सीता आदिशक्ति हैं। अध्यात्मरामायणके युद्धकाण्ड, चतुर्थ सर्ग, श्लोक ४०में कहा गया है कि—

एषा सीता हरेर्माया सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी।
सीता साक्षात् जगद्धेतुश्चिच्छक्तिर्जगदात्मिका ॥

'विश्वकी सृष्टि, स्थिति एवं संहार करनेवाली साक्षात् आदिशक्ति महामाया सीतारूपमें प्रकट हुई। यही सीता साक्षात् जगत्का कारण है। यह चेतना-शक्ति तथा जगत्-रूप है।' मानसकारने बालकाण्डमें भगवती पार्वतीकी महिमा निरूपित करते हुए देवर्षि नारदसे प्रायः यही बात कहलायी है, इसी भावको दुहराया है—

जग संभव पालन लय कारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥
(मानस १ । ९७ । २)

मार्कण्डेयपुराणकी दुर्गासप्तशतीमें भी इसीको स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'देवि ! तुम्हीं इस विश्वको धारण किये हुए हो और तुम्हीं इस जगत्की सृष्टि करती हो। तुम्हीं इसे पालित और अन्तमें सर्वदा अपनेमें इसे विलीन भी कर लेती हो।

त्वयैतद् धार्यते विश्वं त्वयैतत् सृज्यते जगत् ।
त्वयैतत् पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा ॥
(दु० स० १ । ७६)

मानसके सुन्दरकाण्डमें विभीषणद्वारा सीताको रावणादि राक्षसोंका संहार करनेवाली कहा गया है—

काल राति निसिचर कुल केरी। तेहि सीता पर प्रीति घनेरी ॥

प्रायः यही बात वाल्मीकिरामायणके सुन्दरकाण्डमें रावणके प्रति हनुमान्‌जीने कही है—

यां सीतेत्यभिजानासि येयं तिष्ठति ते गृहे ।
कालरात्रीति तां विद्धि सर्वलङ्काविनाशिनीम् ॥
(वाल्मी० ५ । ५१ । ३४)

'रे रावण ! जिसको तू सीता समझ रहा है, जो तेरे घरमें स्थित है, इसे सम्पूर्ण लङ्काका विनाश करनेवाली कालरात्रि समझ।' भगवान्‌की शक्तिका नाम केवल सीता ही नहीं है। इन्हें सीतोपनिषद्‌में प्रकृति भी कहा गया है। **"मूलप्रकृतिरूपत्वात् सा सीता प्रकृतिरुच्यते'**—सांख्यशास्त्रमें कही हुई मूल प्रकृति होनेसे सीताको प्रकृति भी कहते हैं। सीता शब्दमें चार वर्ण हैं—**स् ई त् आ**। इन वर्णोंका अर्थ ऐसा बताया जाता है—

'सकारः सत्यममृतप्राप्तिः सोमश्च कथ्यते' 'स्' का अर्थ सत्य तथा अमृत-प्राप्ति और 'ई' का अर्थ माया है। **'तकारस्तारो लक्ष्म्या वैराजः प्रस्तरः स्मृतः'** इस सीतोपनिषद्के श्लोकके अनुसार क्रमशः 'तकार' और 'आकार' का अर्थ महालक्ष्मी तथा विराट् पुरुषका विस्तार है। श्रीजानकीचरितामृतम्के चौथे अध्यायमें श्रीसीतामन्त्रराजका विस्तृत अर्थ प्रतिपादित है। संत-शिरोमणि तुलसीदासजीने सीताको मायारूप कहा है—

उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म जीव बिच माया जैसें॥
(मानस २। १२२। १)

इसी प्रकार वाल्मीकीय रामायण युद्धकाण्डमें तथा श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धमें सीताको महालक्ष्मीरूप कहा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि परब्रह्म परमात्माकी अनादि शक्तिको सीता कहते हैं। उसी शक्तिको माया, योगमाया आदि अनेक नामोंसे कहा जाता है।

राम शब्दकी विशेषता

वाल्मीकिरामायणके युद्धकाण्डमें कहा गया है कि—

अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः॥
(वाल्मी० ६। १। १४)

'रघुकुलचन्द्र! आप ब्रह्म हैं। आप सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें सत्यरूपसे विद्यमान हैं। आप ही लोकोंके परमधर्म हैं। आप ही चार भुजाधारी विष्वक्सेन विष्णु हैं।' राम शब्द परमात्माका वाचक है—जैसा कि ब्रह्मवैवर्तपुराण, अध्याय १११, श्लोक १८ में कहा है—

'रा' शब्दो विश्ववचनो 'म'श्चापीश्वरवाचकः।
विश्वानामीश्वरो यो हि तेन रामः प्रकीर्तितः॥

अर्थात् 'रा' शब्द सम्पूर्णका वाचक है और 'म' ईश्वरका वाचक है। सबका ईश्वर होनेके कारण परमात्माको 'राम' कहा जाता है। **'तस्य वाचकः प्रणवः'** इस योगसूत्रके अनुसार ओम् भी परमात्माका वाचक है। इसलिये माण्डूक्योपनिषद्में **'ओमित्येतदक्षरम्'** इत्यादि मन्त्रमें ओम्को सब कुछ कहा है। ओम्का सारांश राम है; क्योंकि राम शब्दके **'रा'**में आ तथा **'म'**में अ केवल 'र्' व्यञ्जन तथा 'म्' व्यञ्जनके उच्चारणके लिये है—जैसे शिवसूत्र **'हयवरट्'** आदिमें उच्चारणके लिये अकार होता है। जिस प्रकार पानीपर तुम्बी तैरने लग जाती है, उसी प्रकार रेफ और अनुस्वार वर्णके ऊपर चले जाते हैं। इसलिये मानसके बालकाण्डमें गोस्वामीजीने कहा है—

एक छत्र एक मुकुट मनि सब बरनन पर जोउ।
तुलसी रघुबर नामके बरन बिराजत दोउ॥

रामकर्णामृतकारने भी कहा है—

यन्नामसंसर्गवशाद्विवर्णौ
नष्टस्वरौ मूर्ध्निगतौ स्वराणाम्।
तद्रामपादं हृदये निधाय
देही कथं नोर्ध्वगतिं प्रयाति॥

जैसे हं यह वर्ण महामृत्युंजय मन्त्रका बीज है, उसी प्रकार रं यह अग्निदेवताका बीजमन्त्र है। यह शारदा-तिलक, मन्त्र-महोदधि आदि ग्रन्थोंमें स्पष्ट है। गणितकी दृष्टिसे भी राम शब्दकी वैज्ञानिकता दर्शायी जाती है। संसारमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—ये चार पदार्थ हैं। ये चारों पदार्थ पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश—इन पाँच भूतोंके आश्रित हैं, अर्थात् यह शरीर पाँच भूतोंसे निर्मित है और शरीरके बिना धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये पदार्थ प्राप्त नहीं किये जा सकते। इस पाञ्चभौतिक शरीरमें सुख-दुःख आदि द्वन्द्व हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार—ये आठ अपरा प्रकृतिके नामसे कहे जाते हैं। इसलिये किसी भी नामको चारसे गुणा करके उसमें पाँचको जोड़कर दुगुना करे और पृथ्वी आदि आठ वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं, इसलिये आठसे भाग दें तो रा तथा म के सूचक दो ही शेष रहेंगे। जैसे—हरि इस नाममें दो अक्षर हैं। दोको चारसे गुणा किया तो आठ हुए। आठमें पाँचको जोड़ा तो तेरह हुए। तेरहको दोसे गुणा किया तो छब्बीस

हुए। छब्बीसको आठसे भाग दिया तो शेष दो रहे। इसके लिये एक दोहा प्रसिद्ध है—

नाम चतुर्गुण पंचयुत द्विगुणीकृत बसु लेख।
रम्यो राम सब जगत्में तुलसी यही बिसेख॥

इस प्रकार सब शब्द, सब अर्थ, सब नाम 'रा' तथा 'म'—इन दो अक्षरोंसे व्याप्त हैं। श्रीजानकीचरितामृतम्के चौथे अध्यायमें श्रीसीता मन्त्रराजके स्वरूप एवं अर्थविवेचनके बाद केवल 'राम' मन्त्रमें भी भगवती सीताकी स्थिति बतलायी गयी है। वहाँ कहा गया है कि श्रीराममन्त्रके 'राम' बीजमें किशोरीजी 'आ'कार रूपमें विद्यमान हैं, संसारभयसे व्याकुल प्राणियोंको भगवत्प्राप्ति करानेके लिये एकमात्र वे ही शरणदायिका हैं—

राममन्त्रस्य रां बीजे सीताऽऽकारात्मिकोच्यते।
भवभीत्यार्तजीवानां शरण्यैका तदाप्तये॥
(वही, श्लोक २३)

राममन्त्रराजार्थ-निर्णयमें भी **'तयोर्मध्याकारो युगलमथसंबन्धं'**आदिसे भी बात कही गयी है। अन्तमें श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि श्रीसीताराम तत्त्वतः अखण्ड ज्ञानविग्रह हैं और तत्त्वदर्शी पण्डित इन्हें अभिन्नरूपमें ही देखते हैं—

सीतारामावुभावेकावखण्डौ ज्ञानविग्रहौ।
तयोर्भेदं न पश्यन्ति पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः॥
(श्रीजानकीचरि० ४। २४)

इसलिये गोस्वामीजीने **'गिरा अर्थ जलबीचि सम'** और—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

—की बात कही है। अतः श्रद्धालु भक्तोंको अनन्यभावसे राम-नामका जप करना चाहिये। राम तथा सीता—इन नामोंकी वैज्ञानिकता सिक्खोंके पवित्र ग्रन्थ 'जपजी साहिब पौड़ि' छत्तीसमें भी कही गयी है—

कर्म खण्डकी वाणी जोर।
तिथ्थे होर न कोई होर॥
तिथ्थे जोध महाबल शूर।
तिन में राम रहा भरपूर॥
तिथ्थे सीतो सीता महिमा माहे।
ता के रूप न कथने आहे॥
नं ओह मरे न ठाते आहें।
जिनके राम बसे मन माहें॥

अर्थात् सीता माया है और राम ब्रह्म हैं। मायाशबलित ब्रह्मके अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं है।

वस्तुतः शास्त्रीय दृष्टिसे नाम और नामीमें अभेद होता है। शब्दके बिना अर्थ नहीं होता और कोई अर्थ भी ऐसा नहीं, जिसके लिये कोई नाम (शब्द) न हो। गिरा-अर्थ, जल-वीचिके समान नाम-नामी मिले हुए हैं—दोनों अविनाभावसे अनुस्यूत रहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासने 'बंदौं सीताराम पद'में यही भाव स्पष्ट किया है, जिसमें 'पद' शब्द श्लिष्ट है—पदसे चरण और शब्द—दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं। अतः सीतारामकी महिमा अनन्त है। सीता रामकी (ब्रह्मकी) शक्ति हैं। अतः 'सीता-राम'—ये दोनों शब्द व्युत्पत्ति और प्रकृति-प्रयोगकी दृष्टिसे भी महामहिमान्वित हैं।
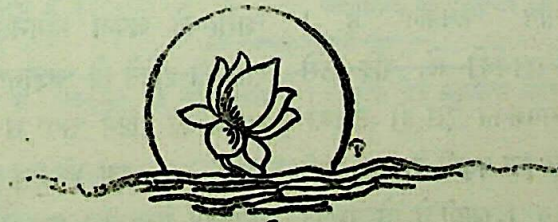
गीताका कर्मयोग

[श्रीमद्भगवद्गीताके तृतीय अध्यायकी व्याख्या]

(श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

(गताङ्क ४, पृष्ठ-सं० ११९से आगे)

जड-चेतनकी ग्रन्थिमें मुख्य बन्धन है—अनुकूलता और प्रतिकूलतामें हर्षित एवं दुःखित होना। गीतामें भगवान् कहते हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप॥
(७। २७)

'हे भरतवंशी अर्जुन! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञानताको प्राप्त हो रहे हैं।'

संसारमें जब किसी एकसे राग किया जाता है तो फिर किसी अन्यसे द्वेष हो ही जाता है। रागसे कामना पैदा होती है, कामनासे अहंता दृढ हो जाती है, अहंतासे प्राप्त वस्तुमें ममता हो जाती है, ममतासे अप्राप्त वस्तुकी इच्छा तथा प्राप्तमें आसक्ति पैदा हो जाती है। फिर इच्छा-पूर्तिमें सहायकके प्रति राग एवं बाधकके प्रति द्वेष हो जाता है। इस प्रकार संसारमें द्वन्द्व (अनुकूलता-प्रतिकूलता)का महान् जाल फैल जाता है।

पवित्र बुद्धि और उत्कट वैराग्य होनेसे ज्ञानयोगी तो विवेकके द्वारा द्वन्द्वरहित हो जाता है, परंतु जिनकी बुद्धि इतनी पवित्र नहीं और जिनमें उत्कट वैराग्य भी नहीं; बल्कि अन्तःकरणमें कामना है, उनके लिये द्वन्द्व-रहित होनेका सुगम उपाय 'कर्मयोग' है। उदाहरणके लिये कोई भोग्य-पदार्थको लें, यदि उसे मायामात्र या स्वप्नका पदार्थ समझकर ऐसे ही उसका त्याग किया जाय तो उसमें कठिनता पड़ती है, परंतु वही पदार्थ किसीके काम आता हुआ दिखायी दे तो उसका त्याग सुगमतासे हो जाता है। कर्मयोगीमें सेवा-भाव होता है, अतः वह पदार्थोंको दूसरोंके उपयोगके लिये उनका सुगमतापूर्वक त्याग कर देता है। दूसरोंकी सेवामें पदार्थोंका त्याग करनेके फलस्वरूप उसे यह अनुभव हो जाता है कि यह मेरे कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि भी 'मेरे' और 'मेरे लिये' नहीं हैं। ये सभी संसारके और संसारके लिये ही हैं। साधक यदि 'शरीरादि पदार्थ मेरे नहीं हैं और मेरे लिये भी नहीं हैं'—इस भावको (जो वास्तविक है) दृढ़तासे मान ले तो कर्मयोग उसके लिये बहुत सुगम हो जाता है। कल्याण त्यागसे होता है, द्वन्द्वरहित होनेसे होता है और जडताका सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे होता है। किसी अन्यके लिये त्याग करना सुगम पड़ता है, इसीलिये भगवान् (गीता ५। २में) कर्मयोगको श्रेष्ठ कहते हैं।

कर्मयोग 'त्याग'का नाम है। अठारहवें अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुन प्रश्न करते हैं—'मैं संन्यास और त्यागका तत्त्व अलग-अलग जानना चाहता हूँ।' यहाँ सांख्ययोगको 'संन्यास' और कर्मयोगको 'त्याग'के नामसे कहा गया है। संन्यासका तात्पर्य भी सम्यक् प्रकारसे त्याग करना ही है। त्यागसे जडताके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। संसारके एक अंश 'शरीर'को अपना माननेसे राग-द्वेष पैदा होते हैं। शास्त्रकी दृष्टिमें तो 'अज्ञान' से यह सम्बन्ध जुड़ा है, पर साधकोंकी दृष्टिमें 'राग' से ही सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। शरीर (जडता)के साथ सम्बन्ध माना हुआ है, वास्तवमें है नहीं। सम्बन्ध केवल मान्यतापर निर्भर है।

सम्बन्ध जोड़ना—वस्तु पासमें है या दूर है, अच्छी है या घटिया है, काम आती है या नहीं आती है आदि बातोंपर निर्भर नहीं करता। जिन वस्तु, व्यक्ति आदिको अपना मान लिया, वही अपने दीखने लगते हैं। शरीरके साथ सम्बन्ध जोड़ लिया तो संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ गया, और शरीरके साथ सम्बन्ध तोड़ लिया तो संसारके साथ सम्बन्ध टूट गया; क्योंकि संसार और शरीर एक ही धातुके हैं। इनमें 'यह मेरा है' और 'यह मेरा नहीं है' मानना भूल ही है। त्याग करनेमें सब स्वतन्त्र हैं—पशु-पक्षी भी स्वतन्त्र हैं। गायको बेच देते हैं तो वह नये घरको अपना मानने लगती है। पक्षी भी घोंसलेको अपना मान लेता है। इसी प्रकार मनुष्य भी किसीकी गोद चला जाय तो उसे दूसरा घर-परिवार अपना दिखने लगता है। त्याग करनेकी शक्ति सबमें है। मनुष्यमें त्याग करनेकी विशेष शक्ति है। कर्मयोगी क्रियाके द्वारा सम्बन्ध-विच्छेद करता है। क्रिया करनेका उसका स्वभाव है ही; अतः कर्मयोग सुगम पड़ता है। इसीसे भगवान् इसे विशेष बताते हैं। यह कर्मयोग और त्याग समताको लेकर ही विशेष हैं; क्रियाको लेकर विशेष नहीं है। कर्मयोगी त्याग (समता)के लिये ही क्रिया करता है। अतः राग मिटानेका उद्देश्य होनेसे क्रिया करते हुए भी उसका राग मिट जाता है। कर्मयोगीके कर्म दिव्य होते हैं—आसक्ति, ममता, कामनाका अभाव होनेसे; जब कि भगवान्के जन्म और कर्म दोनों ही स्वतः दिव्य होते हैं[1]।

शङ्का—कर्मयोगकी प्रणालीमें कर्म करते हुए कर्तृत्वाभिमान कैसे मिट सकता है?

समाधान—साधारण मनुष्य सभी क्रियाएँ अपने लिये करता है। अपनापन रखकर अपने लिये कर्म करनेसे कर्तृत्वाभिमान रहता है। कर्मयोगी कभी भी कोई भी क्रिया अपने लिये नहीं करता। वह ऐसा मानता है कि संसारसे पदार्थ रुपये, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और माना हुआ 'अहं' आदि जो कुछ मिले हैं, वे सब संसारके हैं, अपने नहीं हैं। जब कभी अवसर मिलता है, तभी वह वस्तु, समय आदिको संसारकी सेवामें लगा देता है। वस्तु, समय आदिको सेवामें लगाते हुए कर्मयोगी ऐसा मानता है कि संसारकी वस्तु ही संसारकी सेवामें लगा रहा हूँ अर्थात् पदार्थ भी उन्हींके हैं एवं शरीर, इन्द्रियाँ आदि भी उन्हींके हैं, जिनकी सेवा हो रही है। ऐसा माननेसे कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता। कर्तृत्वमें कारण है—भोक्तृत्व, और कर्मयोगी भोगकी आशा रखकर कर्म करता ही नहीं। भोगकी आशावाला पुरुष 'कर्मयोगी' नहीं होता। जैसे अपने हाथोंसे अपना ही मुख धोनेपर यह भाव नहीं आता कि मैंने बड़ा उपकार किया है; क्योंकि मनुष्य हाथ और मुख दोनोंको अपना ही अङ्ग मानता है, उसी प्रकार कर्मयोगी भी शरीरको संसारका ही अङ्ग मानता है, अतः यदि अङ्गने अङ्गीकी ही सेवा की है तो उसमें कर्तृत्वाभिमान कैसा?

कर्मयोगी संसारमें नाटकके स्वाँगकी तरह क्रियाएँ करता है। नाटकमें रामका स्वाँग नाटकके लिये, खेलके लिये ही होता है। नाटकसे बाहर आते ही रामरूप स्वाँगका स्वाँगके साथ ही त्याग हो जाता है। ऐसे ही कर्मयोगीका कर्तापन भी स्वाँगके समान केवल क्रिया करनेतक ही सीमित रहता है। (क्रमशः)

---

१. जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति : मामेति सोऽर्जुन ॥ (गीता ४। ९.)

'हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किंतु मुझको ही प्राप्त करता है।'

पुराण-तन्त्र एवं आयुर्वेदमें रुद्राक्षकी महत्ता

(लेखक—पं० श्रीबाबूलालजी द्विवेदी, 'मानस मधुप', 'आयुर्वेदवारिधि')

भवानीपति भूतभावन भगवान् शिवके परम प्रिय रुद्राक्षकी पुराणों तथा आयुर्वेदमें बड़ी महिमा है। उपनिषद्-तन्त्र एवं निगमागमोंमें भी रुद्राक्षकी महिमा प्राप्त होती है।

रुद्राक्षकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें शिवपुराणकी विद्येश्वर-संहिताके पचीसवें अध्यायमें कहा गया है कि एक समय भगवान् शिव किसी पर्वके समय मनको स्थिर कर दिव्य सहस्र वर्षपर्यन्त तपस्यामें रत रहे। उन्हें तपःकालाभ्यन्तर कुछ भय-सा प्रतीत हुआ और उनके नेत्रोंसे कतिपय अश्रुबिन्दुओंका मथुरा, काशी, लंका, मलयद्वीप, सह्याद्रि आदि प्रदेशोंमें पात हुआ और रुद्राक्ष-वृक्ष उत्पन्न हो गये। भगवान् रुद्रके अक्षोंके अश्रुओंसे प्रादुर्भूत होनेके कारण उक्त वृक्षोंको रुद्राक्षकी संज्ञा प्राप्त हुई।

वर्तमानमें रुद्राक्षवृक्ष अधिकतर इण्डोनेशियामें मिलते हैं। रुद्राक्षके दाने एवं माला आदि काशी, मद्रास, नेपाल, मथुरा आदिमें सुगमतासे प्राप्त हो जाते हैं। यह कैथ एवं पीपलके वृक्ष-जैसा होता है। बहुधा इसका इण्डोनेशियादिसे ही आयात किया जाता है। रुद्राक्षका फल शुष्क बदरी-फल-सदृश होते हैं, जो ऊपरी भागपर छोटे-मोटे नोकरहित काँटेसे तीन-चार-पाँच-छः आदि भागोंमें विभक्त रहते हैं। 'शिवतत्त्व-रत्नाकर'के अनुसार रुद्राक्ष ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत एवं कृष्णवर्ण—चार प्रकारका होता है। वर्णविभेदानुसार चतुर्वर्णोंकी स्त्रियोंको भी इसे धारण करनेका अधिकार है।

आकारभेदसे रुद्राक्ष चौदह प्रकारका होता है तथा अपने फलोपरि खण्डशः कण्ठकोंकी विभक्तिके अनुसार, पृथक्-पृथक् नामोंसे निम्न प्रकारका होता है—

१—एकमुखी रुद्राक्ष, २—द्विमुखी, ३—त्रयमुखी, ४—चतुर्मुखी, ५—पञ्चमुखी, ६—षण्मुखी, ७—सप्तमुखी, ८—अष्टमुखी, ९—नवमुखी, १०—दशमुखी, ११—एकादशमुखी, १२—द्वादशमुखी, १३—त्रयोदशमुखी और १४—चतुर्दशमुखी।

एकद्वित्रिचतुःपञ्च षट्सप्तवसवो नव।
दशैकादशे द्वादशत्रयोदशचतुर्दशाः॥
(स्कन्दपुराण)

पुराणोंमें इनके पृथक्-पृथक् नामोंका उल्लेख प्राप्त है। शिवपुराणमें तथा स्कन्दपुराणके अनुसार एकसे लेकर चतुर्दशमुखात्मक रुद्राक्षोंका धारण क्रमशः— मोक्षद, पापहर, विद्या-नैपुण्य, साधन-सिद्धिदा, पुरुषार्थदायक, सकलकामनापूरक एवं मरणोपरान्त मोक्षदायक, ब्रह्महत्या नाशक एवं तत्त्वतः पापशामक, द्रव्यदायक, दीर्घायुष्यप्रद, शत्रुनाशक, सर्वसिद्धिदायक, पुण्यद, ऐश्वर्यदायक, सौभाग्यवर्धक एवं सम्पूर्ण पापापहारी होता है। वहाँ इनमेंसे एकमुख, एकादशमुख एवं चतुर्दश मुखके रुद्राक्षोंको साक्षात् शिवरूप बतलाया गया है।

जिस तरह भगवान् विष्णुके अर्चनमें सर्वोपरि तुलसीका महत्त्व है, उसी प्रकार शिव-पूजनादिमें रुद्राक्षका स्थान है। रुद्राक्षका दर्शन, स्पर्शन, धारण, पाप-ताप-विनाशक है। धारणहेतु निश्छिद्र सुपक्व रुद्राक्ष उत्तम है। कीटादिसे दंशित, भ्रंश, टूटा-फूटा, अकण्टक एवं चपटा रुद्राक्ष अग्राह्य है। मालाहेतु स्वयं छिद्रवान् रुद्राक्ष उत्तम माना जाता है। जिसमें छेद करना पड़े, वह मध्यम माना गया है। शिवमहापुराणके अनुसार ग्यारह सौ रुद्राक्षोंका धारण करनेवाला मनुष्य साक्षात् सदाशिवका स्वरूप माना गया है।[1] धारणका क्रम इस प्रकार है—

१—दर्शेषु पूर्णमासे च पूर्णेषु दिवसेषु च। रुद्राक्षधारणात् सद्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
(रुद्राक्षजाबालोपनिषद्, द्वितीय खण्ड, मन्त्र १८)

पाँच सौ पचास रुद्राक्षोंका मुकुट पहने त्रिसूत्रीय यज्ञोपवीतमें तीन सौ साठ (प्रतिसूत्रमें एक सौ बीस) एक सौ एककी माला कण्ठमें, शिखामें तीन, उभय कर्णोंमें द्वादश (प्रत्येकमें छः-छः) उभयमणिसम्बन्धोंमें ग्यारह-ग्यारह तथा दोनों कुहनियोंमें ग्यारह-ग्यारह यज्ञोपवीतमें तीन तथा कटिमें पाँच रुद्राक्षोंको धारण करना चाहिये। रुद्रयामलतन्त्रमें भी साधकोंको इसी प्रकार धारण करनेका निर्देश दिया गया है, किंतु संख्यामें भिन्नता है। मोक्षकामी साधक शिखा, कण्ठ, हस्त, कर्णादिमें रुद्राक्ष अवश्य धारण करे।[1]

देहमें रुद्राक्षका स्पर्शमात्र हो जानेपर श्वान भी रुद्रपदको प्राप्त होता है। अतएव रुद्राक्ष रुद्रपदकामीको सदैव धारण करना चाहिये। बिना रुद्राक्ष धारण किये हुए मनुष्यद्वारा किये गये अर्चनको शिवजी स्वीकार नहीं करते। रुद्राक्षधारी पुरुष जो भी पुण्य करता है, वह कोटिगुना अधिक हो जाता है। साधकके **'ॐ ह्रीं घोरे हुं घोर तरे ऊं हें ह्रीं श्रीं ऐं सवतुः सर्वं सर्वेभ्यो नमोस्तु रुद्र रूपाणि हुं हुं'** इस मन्त्रसे विधिवत् प्रतिष्ठित रुद्राक्षको धारण करनेसे फलप्राप्तिमें और भी अधिक अभिवृद्धि होती है।[2]

चतुर्दश प्रकारके रुद्राक्षोंको अर्चित-अभिमन्त्रितकर धारण करना चाहिये।[3] शैव मतावलम्बियोंकी मान्यता है कि सदाशिवका स्वरूप एकमुखी रुद्राक्ष वृक्षसे चटककर वहीं गिरता है, जहाँ विधिवत् शिवलिङ्ग स्थापित होता है तथा शिवस्वरूपमें ही विलीन हो जाता है और दो-मुखी रुद्राक्ष परम साधककी गोदमें ही गिरता है। शेष प्रकारके रुद्राक्ष यत्र-तत्र सुलभ होते हैं।

इसके अतिरिक्त आयुर्वेदमें भी रुद्राक्षका विशेष महत्त्व है। रुद्राक्ष धारण करते समय इस बातका स्मरण रहे कि फलके कण्टकोंका स्पर्श हृदयप्रदेशपर सर्वत्र होता रहे। विभिन्न रोगोंपर रुद्राक्षका प्रयोग निम्नलिखित विधिसे सद्यःफलप्रद है।

शीतला : (Small Pox)—रुद्राक्षके दानोंको गोदुग्धमें पिष्टितकर प्रतिदिन स्वल्पाहारके पूर्व सेवन कराये। शनैः-शनैः शीतलाका शीघ्र शमन हो जाता है। दाह शान्त होती है।

रक्तचाप (Blood Pressure)—उभय भेदात्मक—निम्न रक्तचाप उग्र रक्तचाप दोनोंमें रुद्राक्षका प्रयोग हितकर है। इस रोगमें कालाग्नि रुद्र नामक छःमुखी अथवा पञ्चमुखी रुद्राक्ष कण्ठमें एवं हस्तमें धारण करे, परहेजमें नमक न ले, लवणीय पदार्थ भी यथासम्भव ग्रहण न करे। विशुद्ध रुद्राक्ष चाहे वह किसी भी वर्णका हो १० दाने लेकर ताम्रपात्रमें ५० ग्राम जलमें रात्रिभर डुबोये रखे। प्रातः शौचादिसे निवृत्त होकर

१–निश्छिद्राश्च सुपक्वाश्च रुद्राक्षा धारणे स्मृताः। पञ्चामृतं पञ्चगव्यं स्नानकाले प्रयोजयेत्॥ (पद्मपुराण)

२–रुद्राक्षे देहसंस्थे तु कुक्कुरो म्रियते यदि। सोऽपि रुद्रपदं याति किं पुनर्मानवा गुह॥
विना भस्म त्रिपुण्ड्रेन विना रुद्राक्षमालया। विना मालूरपत्रेण नार्चयेद् गिरिजापतिम्॥
पूजितोऽपि महादेवो न स्यात् तस्य फलप्रदः। सप्तविंशतिरुद्राक्षमालया देहसंस्थया॥
यः करोति नरः पुण्यं सर्वं कोटिगुणं भवेत्। यो ददाति द्विजातिभ्यो रुद्राक्षसमुखं यदि॥
तस्य प्रीतो भवेद् रुद्रो स्वपदं च प्रयच्छति॥ (पद्मपुराण)

३—१–ॐ ह्रीं नमः, २–ॐ नमः, ३–ॐ क्लीं नमः, ४–ॐ ह्रीं नमः, ५–ॐ ह्रीं नमः, ६–ॐ ह्रीं नम हुं नमः, ७–ॐ हुं नमः, ८–ॐ हुं नमः, ९–ॐ ह्रीं हुं नमः, १०– ॐ ह्रीं हुं नमः, ११–ॐ हुं नमः, १२–ॐ क्रौं क्ष्रौं नमः, १३–ॐ ह्रीं नमः, १४–ॐ ह्रीं नमः।

बिना मन्त्रके रुद्राक्ष धारण करनेसे इन्द्रकी आयुपर्यन्त नरकनिवास करना पड़ता है।

खाली पेट नित्य दो माहतक सेवन करे। इसके सिवा सर्पगन्धा वटीका सेवन लघु सुपाच्य भोजन हितकर है। आशातीत लाभ होगा। अनुभवसिद्ध है, बहुपरीक्षित है।

राजयक्ष्मा (Tuberculosis)—यक्ष्मामें पञ्चमुखी रुद्राक्ष कण्ठ एवं हस्तमें धारण करे। साथ ही तज एक भाग, एला दो भाग, पिप्पल चार भाग एवं वंशलोचन आठ भाग—इन सबके समान भाग मेथीके साथ सूक्ष्म पिष्टितकर मधु एवं नवनीतके साथ नित्य तीन माहतक सेवन करे। रुदन्ती फलका प्रयोग भी ऐसे समयमें हितकर होता है। प्रयोग परीक्षित है।

वातरक्त—कण्ठ एवं गलेमें छः मुखी शूद्रवर्ण रुद्राक्ष धारण करना चाहिये। यह छः मुखी रुद्राक्ष ॐ ह्रीं हुं नमः इस मन्त्रसे जलमें घर्षित कर मञ्जिष्ठादि क्वाथ समान भागका सेवन सोनेमें सुगन्धका काम करता है।

हृदयरोग—पाँचों प्रकारके वातज, पित्तज, श्लेष्मज संनिपातज और कृमिज—हृदयरोगोंमें रुद्राक्षकी सत्ताईस दानोंकी माला कण्ठमें इस प्रकार धारण करे कि रुद्राक्षका सदैव संस्पर्श हृदयप्रदेशको प्राप्त होता रहे। स्मरणीय रहे कि शूद्रवर्ण चतुर्मुख रुद्राक्ष धारण करनेसे पूर्व 'ॐ ह्रीं नमः'मन्त्रसे अभिमन्त्रितकर ले तथा अर्जुन-घृत, अर्जुनारिष्टका भी प्रयोग करे।

ऐसे ही कुछ अन्य रोगोंपर भी इसका प्रयोग लाभकर है। पर मुख्य लाभ तो इसका आध्यात्मिक एवं पारलौकिक ही है। रुद्राक्ष शिवस्वरूप है और इसका धारण शिवाशिवका परम कृपाप्रसादजनक है।

स्वेच्छाचारी राजा वेन और सदाचारी पृथु

(लेखक—डॉ० श्रीसर्वानन्दजी पाठक, एम्० ए०, पी-एच्० डी० (द्वय), डि०लिट्०, शास्त्री, काव्यतीर्थ, पुराणाचार्य)

यद्यपि अभिज्ञानशाकुन्तल (५ । ३-४) एवं महाभारतादिमें भी 'लोकतन्त्र' पद्धतिका उल्लेख मिलता है, तथापि उस कालमें प्रशासनका सारा भार प्रायः राजाके ही ऊपर रहता था और जनताके कल्याणके लिये राजा सर्वदा तथा सर्वथा सचेष्ट रहता था। राजाका जीवन सदाचारपूर्ण एवं सरल होता था, वह स्वयं तो कष्ट सहन कर लेता था, किंतु प्रजावर्गकी सुख-सुविधाओंमें कोई न्यूनता न हो इस ओर उसकी पूरी सावधानता रहती थी। दाशरथि राम आदि राजा इसके लिये उदाहरणीय हैं। इसके विपरीत अपवादस्वरूप कतिपय वेदविरोधी निरङ्कुश या स्वेच्छाचारी शासकोंका भी उल्लेख इतिहास-पुराणोंमें मिलता है, जिन्हें समाजद्वारा दण्डित भी होना पड़ता था।

'राजृ—दीप्तौ' धातुसे निष्पन्न 'राजा' शब्दका अर्थ होता है—वह शासक—जो सदाचारिता, निःस्वार्थता एवं प्रजाहितैषिता आदि सद्गुणोंके कारण राष्ट्रमें प्रकाशमान तथा प्रजाओंका श्रद्धास्पद हो। पर यत्र-तत्र अनाचारी शासकोंका भी वर्णन भारतीय वाङ्मयमें मिलता है। ऐसे राजाकी तानाशाही बढ़ते-बढ़ते जब चरम सीमापर पहुँच जाती थी, तब उनके पतन होनेमें भी देर नहीं लगती थी।

पुरातनकालमें ऐसे ही अहंकारी, उद्दण्ड तथा स्वेच्छाचारी राजा वेनका प्रसङ्ग मिलता है। उनके पिता अङ्ग थे, जो परम सदाचारी राजा थे। पुत्र वेनकी उद्दण्डतासे ऊबकर राजर्षि अङ्गने घर छोड़कर वनका आश्रय ले लिया था। अतः शासकके अभावमें सम्पूर्ण राष्ट्रमें पाशविक उच्छृङ्खलताएँ बढ़ गयीं। मुनियोंने राज्यकी कल्याण-कामनाके हेतु पुत्रवत्सल वेनकी माता सुनीथाकी प्रेरणासे मन्त्रियोंके सहमत न होनेपर भी वेनको ही भूमण्डलके राजपदपर

अभिषिक्त कर दिया था। परिणाम यह हुआ कि राजपदपर आसीन होते ही वह आठों लोकपालोंकी ऐश्वर्य-कलाके आत्मनिष्ठ हो जानेके कारण उन्मत्त हो उठा और अहंकारवश अपनेको ही सर्वश्रेष्ठ मानकर महापुरुषोंका अपमान करने लगा। ऐश्वर्यमदमें अन्धा हुआ वह रथारूढ़ होकर, निरंकुश गजराजके समान, पृथ्वी और आकाशको कँपाता हुआ सर्वत्र विचरण करने लगा। ढिंढोरा पिटवाकर उसने सम्पूर्ण राष्ट्रमें धार्मिक एवं सांस्कृतिक कार्य बंद करवा दिये। सम्पूर्ण भूमण्डलमें हाहाकार मच गया। अहंकारवश मदोन्मत्त होकर उसने अपनेको ही जगत्के ईश्वरके रूपमें घोषित कर दिया! अपनेको छोड़कर किसी अन्य अतीन्द्रिय शक्तिशाली परमात्माके अस्तित्वको उसने कथमपि स्वीकार नहीं किया। सारे प्रजावर्गको मूर्ख मानकर वह कहने लगा था—'प्रजाजनो, तुम अधर्ममें ही धर्मबुद्धि रखते हो। जो लोग मूर्खतावश प्रत्यक्ष राजारूप परमेश्वरका अनादर करते हैं, उन्हें न तो इस लोकमें सुख मिलता है और न परलोकमें ही। जिसमें तुमलोगोंकी इतनी भक्ति है, वह परमेश्वर है कौन? यह तो ऐसी बात हुई जैसे कुलटा स्त्रियाँ अपने विवाहित पतिसे प्रेम न कर किसी परपुरुषमें आसक्त हो जायँ। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, मेघ, चन्द्रमा, पृथ्वी, अग्नि और वरुण तथा इनके अतिरिक्त जो दूसरे समर्थ देवता हैं, वे प्रत्यक्ष राजाके शरीरमें विद्यमान रहते हैं, इसलिये राजा सर्वदेवमय है और देवता उसके अंशमात्र हैं। अतएव तुम लोग मत्सरता छोड़कर अपने अशेष कर्मोंके द्वारा एकमात्र मेरा ही पूजन करो और मुझे ही बलि समर्पित करो। भला, मेरे सिवा और कौन अग्रपूजाका अधिकारी हो सकता है?'

इस प्रकार विपरीत बुद्धि होनेके कारण वह अत्यन्त पापी और कुमार्गगामी हो गया था। उसका पुण्य सर्वथा क्षीण हो चुका था, इसलिये **'विनाशकाले विपरीत-बुद्धिः'**के अनुसार वेनको किसी हितैषीका सदुपदेश भी अच्छा नहीं लगता था।* उसने अपना दुराचरण नहीं छोड़ा और उसकी तानाशाही दिन-पर-दिन बढ़ती ही गयी।

ऐसी दुःस्थितिमें धर्म एवं समाजके हितचिन्तक मुनिवरोंने वेनको राज्यसिंहासनके अयोग्य समझकर अपने छिपे हुए क्रोधको प्रकटकर धर्म एवं समाजकी रक्षाके लिये उसे मार डालनेका निश्चय किया। यद्यपि वेन तो अपने पापाचरणके कारण पहले ही मर चुका था, अतः मुनियोंने केवल हुंकारोंसे ही उसका काम तमाम कर दिया। अब वेनकी शोकाकुला माता सुनीथा मोहवश मन्त्रादि-बलसे तथा अन्य युक्तियोंसे अपने मृत पुत्रके शवकी रक्षा करने लगी।

स्मृतियोंके मतानुसार राष्ट्रमें एक सुयोग्य राजा या शासकका होना परमावश्यक माना गया है; क्योंकि शासकके अभावमें प्रजावर्गमें निर्भीकता एवं उच्छृङ्खलता बढ़ जाती है। दुराचारी रहनेपर भी राजा वेनके मर जानेपर सारे भूमण्डलमें अराजकता फैल गयी, चोर-डाकुओंका उपद्रव बढ़ने लगा, लूट-खसोट शुरू हो गयी। निरङ्कुशताके कारण बलवान् निर्बलोंको तरह-तरहसे सताने लगे। यह देखकर मुनियोंने विचार किया—'ब्राह्मण यदि समदर्शी और शान्तस्वभाव भी हो तो भी दीनोंके दैन्यकी उपेक्षा करनेसे उसका तपोबल

---

* नीतिकारका यह कथन ठीक ही है कि—

सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम्। विपत् संनिहिता तस्य स नरः शत्रुनन्दनः॥
दीपनिर्वाणगन्धं च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम्। न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः॥

(हितोपदेश १।७४, ७६)

उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे फूटे हुए घड़ेमेंसे जल। फिर राजर्षि अङ्गकी वंशपरम्पराका भी नाश नहीं होना चाहिये; क्योंकि इसमें अनेक अमोघ शक्तिसम्पन्न तथा कर्तव्यपरायण राजा हो चुके हैं। ऐसा सोचकर ब्राह्मणोंने पुत्रहीन राजा वेनकी भुजाओंका मन्थन किया। उससे एक स्त्री-पुरुषका जोड़ा प्रकट हुआ। ब्रह्मवादी ऋषि उस जोड़ेको उत्पन्न हुआ देखकर और उसे भगवान्का अंश जानकर बहुत प्रसन्न हुए। वे बोले—'इनमें जो पुरुष है, उसके अङ्ग-अङ्गमें चक्रवर्तीके चिह्न हैं, यह अपने सुयशका प्रथन अर्थात् विस्तार करनेके कारण परम यशस्वी 'पृथु' नामक सम्राट् होगा एवं राजाओंमें सर्वप्रथम राजमान्य। सर्वगुणसम्पन्ना यह सुन्दरी स्त्री पृथुको अपने पतिके रूपमें वरेगी और यह 'अर्चि' नामसे विख्यात होगी।'

पृथुके जन्मके उपलक्ष्यमें सम्पूर्ण राष्ट्रमें गीत-वाद्यादिके द्वारा महान् उत्सव मनाये गये। ब्रह्मा आदि प्रमुख देवता भी उस कुमारको देखने आये।

स्वेच्छाचारी राजा वेनके राजत्वकालमें सारे राज्यमें असन्तोषकी स्थिति हो गयी थी। सर्वत्र दुर्भिक्ष छा गया था—धरा शक्तिहीन हो गयी थी। अन्न और औषधादिक पदार्थ लुप्तप्राय हो गये थे। वेनकी तानाशाहीके कारण प्रजावर्गमें क्षुधाके मारे व्याकुलता थी। सर्वत्र 'त्राहि त्राहि'का आर्तनाद सुनायी देता था।

जब समाजमें दुराचरणकी अतिशयिता चरम शिखरपर पहुँच जाती है, तब उसके निवारणके लिये प्रकृति निश्चय ही कुछ प्रबन्ध कर देती है। जब रावणके दर्पकी मात्रा बढ़ी, तब उसका उसकी राजधानी लंकासहित सर्वनाश हुआ। अभिमानके चरम सीमापर पहुँचनेपर कौरवोंका पतन हुआ और जब राजा बलिको अपनी दानशीलताके लिये गर्व हुआ, तब उन्हें बन्धनमें आना पड़ा—

अतिदर्पे हता लङ्का ह्यतिमाने च कौरवाः।
अतिदाने बलिर्बद्धः सर्वमत्यन्तगर्हितम्॥
(चाणक्यनीतिद०, सुभाषितभं०)

ऐसी ही अवस्थाके आ जानेपर वेनके संहारके पश्चात् प्रजावत्सल सदाचारी पृथुके हाथमें राज्याधिकार आया। पृथुके अशेष आचरण प्रजातान्त्रिक थे। प्रजावर्गकी सुख-सुविधाके लिये पृथु सम्पूर्ण व्यवस्था करते थे। सारे राज्यमें प्रसन्नता एवं अद्भुत शान्ति छा गयी। दुःख-दारिद्र्यका कहीं नामतक सुनायी नहीं देता था, आनन्द-ही-आनन्दकी अनुभूति हो रही थी। पृथुके द्वारा शासित पृथ्वी अपने 'वसुंधरा' नामको चरितार्थ करने लगी। उससे विविध प्रकारके अन्न प्रचुर मात्रामें उपजने लगे थे। वृक्ष-लताएँ भाँति-भाँतिके स्वादु फलों एवं सुगन्धित पुष्पोंसे लदने लगी। गव्य (गो-दुग्धादि) पदार्थोंका बाहुल्य हो गया था। ऐसी अवस्था देख महाराज पृथु प्रसन्नताका अनुभव करने लगे। तत्कालीन सर्वकामदुघा पृथ्वीके प्रति उनका पुत्रीके समान स्नेह होने लगा, अतः उसे अपनी कन्याके रूपमें उन्होंने स्वीकार कर लिया। [मनुजीने ९। ४४ में इन्हें पृथुकी स्त्री भी बतलाया है।] उन्होंने पूर्वसे अव्यवस्थित आकृतिवाले ऊबड़-खाबड़ सारे भूमण्डलको प्रायः समतल कर दिया। जनताके लिये उन्होंने जहाँ-तहाँ यथायोग्य निवासस्थानोंकी व्यवस्था कर दी। अनेक गाँव, कस्बे, नगर, दुर्ग, घोष (अहीरोंकी बस्ती) पशुओंके रहनेके स्थान, छावनियाँ, खानियाँ, किसानोंके गाँव और पहाड़ोंकी तलहटीके गाँव उन्होंने बसाये और जनताकी शिक्षा-दीक्षा आदिकी सारी सुविधाओंकी व्यवस्था कर दी। इनके पहिले इस भूमण्डलपर पुर-ग्रामादिका विभाग नहीं था, सब लोग अपने-अपने सुभीतेके अनुसार जहाँ-तहाँ बसते थे।

विधिका प्राकृतिक विधान विचित्र एवं आकस्मिक

परिवर्तनमय होता है। एक स्थितिका दूसरी स्थितिमें परिवर्तन अवश्यम्भावी रहता है। रात्रि-दिन, दुःख-सुख, अशान्ति-शान्ति, दुर्भिक्ष-सुभिक्ष तथा विषाद-प्रसाद आदि विविध विपरीत तत्त्वयुगलका परिवर्तनचक्र अबाधगतिसे निरन्तर चलता रहता है। जब हिरण्यकशिपुके अत्याचारसे प्रह्लाद-प्रमुख सदाचारी जनता पीड़ित हुई, तब नरसिंहने प्रकट होकर शान्ति स्थापित की। रावणके अत्याचारसे संत्रस्त हुई जनताका श्रीरामने उद्धार किया। कंसके अत्याचारसे व्याकुल प्रजावर्गको श्रीकृष्णने शान्ति प्रदान की थी। उसी प्रकार वेदविरोधी पापी वेनके उद्दण्ड शासनसे उद्विग्न जनताके कल्याणके लिये महाराज पृथुका चक्रवर्ती राजाके रूपमें आविर्भाव हुआ था। (अथर्ववेदमें इनका चरित्र विस्तारसे है।)

प्रकृतिका एक अकाट्य नियम है—राष्ट्र या समाजमें जब जनताके धर्म, मर्यादा एवं संस्कृतिके ऊपर भीषण संकट आ जाता है और घोर अधर्मका उत्थान होने लगता है, तब कोई नियामक शक्ति किसी रूपमें अवश्य आकर सार्वत्रिक शान्तिकी व्यवस्था कर देती है।

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्॥
(मार्कण्डेयपुराणोक्त देवीमाहात्म्य० ११।५५)

रामचरितमानसमें नारीके मनोभावोंका विश्लेषण

(लेखक—डॉ० सुश्री शान्ता अग्रवाल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भारतने सदा ही नारीजातिको अत्यन्त आदर प्रदान किया है। प्रत्येक युगके साहित्यकार नारी-चित्रणमें प्रायः उदार पाये जाते हैं। इनमें भी गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका स्थान तो सर्वोपरि है। उन्होंने नारीजातिके प्रति अत्यन्त श्रद्धा प्रकट की है, तभी तो प्रारम्भमें वाणी-विनायक और भवानी-शंकरकी श्रद्धा-विश्वासके रूपमें वन्दना की है। यहींसे अपने महाकाव्य रामचरितमानसकी रचना प्रारम्भ की है।

मानससे सिद्ध होता है कि उसके रचयिता गोस्वामीजी मानवहृदयके सूक्ष्म पारखी तथा जनमानसके क्रान्तद्रष्टा थे। उन्होंने बड़ी कुशलतासे मानवकी गहराइयोंमें छिपे सूक्ष्म रहस्योंको अपने ग्रंथोंमें अभिव्यक्त किया है। जहाँ उनकी मनोविज्ञान-प्रेरित प्रतिभाने कौसल्या-जैसी स्नेहमयी, विशालहृदया एवं मर्यादामयी माताकी पुष्टि की, वहाँ मंथरा-जैसी वक्रगामिनी स्त्रीके हृदयका रहस्य भी उनसे छिपा न रह सका। उनकी दृष्टिमें यदि नारी दया, ममता और स्नेहका पावन स्रोत है तो वह क्रोधी, ईर्ष्यालु और स्वाभिमानिनी भी है। सागरमें समायी लहरोंकी भाँति हृदयमें छिपी रहनेवाली मनःस्थितियोंका वर्णन भी इन्होंने बड़े ही मार्मिक ढंगसे किया है।

भारतीय नारी वात्सल्यकी प्रतिमूर्ति मानी गयी है। मातृत्वकी भावना उसकी जन्मजात प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्तिका प्रादुर्भाव तुलसीजीने मानसकी प्रायः सभी श्रेष्ठ नारी-पात्रोंमें दर्शाया है। कौसल्याके व्यवहारमें तो मातृत्व पग-पगपर झलकता है। इसके अतिरिक्त मैना, सुनयना, मन्दोदरी एवं सीताके वात्सल्यमें भी कहीं कोई कमी नहीं आ पायी है। प्रेममें मग्न मानवके लिये थकानका स्थान नहीं होता, फिर यदि वह स्थान माँ ले ले, तब फिर कहना ही क्या? माँको प्रेमवश अपने बालकका काम करनेमें न तो थकावट ही होती है और न समयका ही आभास होता है। इसी प्रेमके वश ही तो कौसल्या सेवक-सेविकाओंके होते

हुए भी स्वयं रामको नहलाती हैं, शृङ्गार करती हैं, पालनेमें झुलाती हैं, भोजन कराती हैं। पटरानी होनेपर भी उन्हें इन कामोंमें जरा-सी थकावट नहीं होती, बल्कि वे इतनी आनन्दित होती हैं, मानो उन्हें पृथ्वीपर स्वर्गकी अमूल्य निधि मिल गयी हो; जिसका वर्णन तुलसीदासजीने बड़े प्रेमभरे शब्दोंमें इस प्रकार किया है—

प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान।
सुत सनेह बस माता बाल चरित कर गान॥
(मानस १। २००)

इसी प्रकार जब रामके विवाहकी पत्रिका आती है, तब भी कौसल्या और अन्य माताएँ ऐसी झूम उठती हैं, जैसी बादलोंकी आवाज सुनकर मोरनी। पुत्रों तथा पुत्र-वधुओंको देखकर तो स्नेह एवं आनन्दसे उनके शरीर ही शिथिल हो गये; किंतु फिर भी पाँवड़े देती हुई इन लोगोंको वे स्वयं ही महलोंमें ले जाती हैं। वहाँ उनको बार-बार देखती हैं और बलैया लेती हैं। उन्हें देखते-देखते तो उनका मन ही नहीं भरता है, बहुत दिनोंके बाद मिली हैं न। माँका स्वभाव ही ऐसा होता है, वह बड़े होनेपर भी अपने बालकको सुकुमार ही समझती है। इसीलिये तो इन्हें विश्वास नहीं होता कि इन्होंने किस प्रकार ताड़काको मारा होगा और इस विषयमें रामसे बार-बार पूछती हैं— **'केहि बिधि तात ताड़का मारी'।**

प्रत्येक माँकी अभिलाषा होती है कि उसका बालक जीवनमें बड़ा-से-बड़ा पदाधिकारी बने और उन्नतिके चरम शिखरपर पहुँचे। इसीसे राजतिलकका समय जानकर कौसल्याका मन असीम उत्साहसे भर जाता है तथा पुलकित होकर रामको अपनी गोदमें बैठाकर बार-बार हृदयसे लगाती हैं, वे उनपर गहने तथा कपड़े न्यौछावर करती हैं एवं व्याकुल होकर उन्हें जल्दी नहाने और कुछ मीठा खानेके लिये कहती हैं। किंतु रामके मुखसे वनवासकी बात सुनते ही ऐसी विकल हो जाती हैं जैसे मछलीने माँजा खा लिया हो। फिर भी भारी मनसे कहती हैं, मैं भी साथ चलती, किंतु तुम्हें कष्ट होगा। तुम याद करते रहना और जीते-जी मिलनेका उपाय करना। बालक पास रहे या दूर, माँके हृदयमें उसका निवास सदैव ही रहता है।

कौसल्याका वात्सल्य निर्मल एवं विशाल है। इसीसे तो वे सभी पुत्रोंसे समान रूपसे स्नेह करती हैं। भरतको ननिहालसे आया देख तुरंत रामकी तरह ही हृदयसे लगा लेती हैं और मनमें ऐसा प्रतीत करती हैं जैसे रामसे ही मिल रही हों। इसका वर्णन तुलसीदासजीने इस प्रकार किया है—

सरल सुभाय मायँ हियँ लाए। अति हित मनहुँ राम फिरि आए॥
भेंटेउ बहुरि लखन लघु भाई। सोकु सनेहु न हृदयँ समाई॥
देखि सुभाउ कहत सबु कोई। राम मातु अस काहे न होई॥
(मानस २। १६५। १-२)

पुत्रोंके समान ही पुत्रियोंसे भी माताओंको स्नेह होता है। वे अपनी पुत्रियोंको अच्छे वरके हाथोंमें सौंपकर अत्यन्त सुख एवं संतोषका अनुभव करती हैं। तभी तो मनचाहे वरको न देखकर मैना शोकमें डूब जाती हैं! पुत्रीके भाग्य फूटनेकी बातसे विलाप करते-करते पर्वतसे गिरकर मरनेकी बात सोचने लगती हैं और लड़कियोंको विदा करते समय तो माताओंका वात्सल्य नदीकी बाढ़की तरह उमड़ पड़ता है। वे चाहती हैं कि किसी भी प्रकार विछोह न हो, तभी तो सुनयना तथा अन्य माताएँ सीताजीको विदा करते समय बार-बार गोदमें उनका सिर रख लेती हैं और स्नेहसे लौट-लौटकर बार-बार मिलती हैं। उस समय उनकी दशा उस गायके समान हो जाती है, जो जंगल जाते समय अपने बछड़ेको बार-बार पीछे मुड़-मुड़ कर देखती है। कैकेयीने

इतने कठोर वचन जो माँगे, उसके पीछे भी तो उसकी वात्सल्य भावना ही थी। यदि मन्थरा यह न कहती कि 'रामके राज्य मिलनेपर तुम्हारा पुत्र कारावासमें सड़ेगा, तो शायद वे रामको कभी वनवास न भेजतीं; क्योंकि रामके लिये उनके मनमें भी कौसल्याके समान अतुल स्नेह था। मेघनादका वध सुनकर मन्दोदरीका विलाप भी बड़ा ही हृदयविदारक है। भला, माँ अपने सामने बेटेकी मृत्यु कैसे सहे!

वात्सल्यकी भाँति नारीकी सहज सुलभ लज्जा एवं उसके संकोचका वर्णन भी तुलसीदासजीने बड़े ही हृदयस्पर्शी ढंगसे किया है। पर-पुरुषको देखकर नारी-हृदयमें लज्जा एवं संकोचके भाव सहज ही उत्पन्न हो जाते हैं। तभी तो पुष्पवाटिकामें सीताजी रामको देखकर सकुचा गयीं, किंतु नारदके वचनोंको ध्यानमें रखकर प्रेम-विभोर हो गयीं। इस अवस्थाका वर्णन तुलसीदासजीने कितने मधुर शब्दोंमें किया है—

तासु बचन अति सियहि सोहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने॥
चली अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखइ न कोई॥
लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥
जब सिय सखिन्ह प्रेमबस जानी। कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी॥
(मानस १। २२४। ४, २३१। ४)

प्रायः किशोरियाँ अपने मनका पति तो चाहती हैं, किंतु लज्जावश उसे जतानेमें असमर्थ रहती हैं। वैसे ही सीताजी भी रामको चाहती हैं, किंतु लज्जावश कहती नहीं। साथ ही पिताके प्रणका ध्यान आते ही शंकासे भयभीत हो जाती हैं। इसीसे गिरिजासे प्रार्थना करती हैं कि 'हे माँ! धनुषको हल्का कर दे।' जय-मालाके समय भी मनमें उत्साह होते हुए भी अति संकोचसे चलती हैं कि उनके गूढ़ प्रेमको कोई देख न ले।

भगवान् राम एवं भगवती सीता दिव्य दम्पति थे। वनमार्गमें ग्रामीण स्त्रियोंको उनके विषयमें जाननेकी स्वाभाविक उत्सुकता होती है और फिर ग्रामवधुओंको तो सीताजीसे अति प्रेम हो गया था, इसीसे उन्होंने सीताजीके पति दोनोंमेंसे कौन हैं, यह जाननेकी उत्सुकता प्रकट की। सीताजी आदर्श भारतीय नारी हैं—नाम कैसे बतायें। खुले शब्दोंमें रामको पति कहनेमें भी उन्हें संकोच लगा, इसीलिये तो पृथ्वीकी ओर देखने लगती हैं, किंतु मन-ही-मन मन्द-मन्द मुसकराती भी हैं। उत्तर तो देना ही है, क्योंकि भोली-भाली ग्रामवधुओंकी उपेक्षा भी तो नहीं कर सकती हैं, उनसे प्रेम जो है, इसलिये लज्जासे पृथ्वीकी ओर देखकर रामका परिचय इस प्रकार देती हैं—

सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
(मानस २। ११६। ३)

भारतीय नारीके लिये पति ही परमेश्वर होता है। यही समझकर वनवासके समय सीताजी कौसल्याजीके सामने संकोचसे पैरके नाखूनसे पृथ्वीपर लिखती हुई वन जानेके लिये विनय करती हैं और श्रीरामके नाना प्रकारके वनोंके दुःखोंसे अवगत करानेपर भी उनसे कहती हैं—'पति-वियोगके समान जगत्में दुःख नहीं है। उनके विना भोग रोगके समान हैं, गहने भारस्वरूप हैं, संसार यम-यातनाके समान है। आपके साथ रहनेसे तो पर्णकुटी भी स्वर्ग बन जायेगी। उदार वनदेवी एवं वनदेवता सास-ससुरके समान ही देख-भाल करेंगे। कन्द-मूल-फल अमृतके समान आहार होंगे। वन एवं पहाड़ राजमहलोंके समान होंगे। इस प्रकार वनके सब दुःख मिलकर भी वियोग-दुःखके सामने नहींके समान हैं। आप मुझे सुकुमारी कहते हैं, क्या आप वन जाने एवं तपके योग्य हैं। यदि सेवा-हेतु आप मुझे वन न ले गये तो मेरे प्राण तो यों ही निकल जायँगे।' सास-ससुरकी आज्ञा लेकर सीताजी पतिसेवाके लिये जब वन चली जाती हैं, तब वहाँ तो उनका चित्रण अग्निमें तपे कञ्चनके समान और भी निखर उठता है। प्रेमके प्रभावसे उन्होंने जंगलको भी राज-प्रासाद ही समझा है और वहाँ श्रीरामको देखकर इतनी प्रसन्न रहती हैं

जैसे चन्द्रमाको देखकर चकोरी । सीताजीका भी राममें अटूट प्रेम एवं श्रद्धा है, इसीसे अशोकवाटिकामें प्रतिक्षण उनके नामकी ही माला जपती रहती हैं । पतिव्रता स्त्रीको अपने पतिपर सदैव गर्व रहता है । वे पर-पुरुषको क्षीण ही समझती हैं । इसीसे तो सीताजी रावणसे कहती हैं—

सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा । कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा ॥
अस मन समुझु कहति जानकी। खल सुधि नहिं रघुबीर बान की
सठ सूनें हरि आनेहि मोही। अधम निलज लाज नहिं तोही ॥
(मानस ५ । ९ ४-५)

पति-प्रेममें विह्वल नारी अपना जीवन नहीं चाहती है तभी तो रावणकी एक माहकी अवधिके लज्जाजनक शब्दोंको सुनकर सीताजीका हृदय विकल हो उठा और उनको अपना जीवन भारस्वरूप लगने लगा, वे त्रिजटासे कह उठीं—

त्रिजटा सन बोलीं कर जोरी । मातु बिपति संगिनि तैं मोरी ॥
तजौं देह करु बेगि उपाई । दुसह बिरह अब नहिं सहि जाई ॥
आनु काठ रचु चिता बनाई । मातु अनल पुनि देहु लगाई ॥
सत्य करहि मम प्रीति सयानी । सुनै को स्रवन सूल सम बानी॥
(मानस ५ । १२। १-२)

रातको अग्नि न मिलनेके कारण चाँद एवं तारोंसे ही अंगारे बरसानेकी प्रार्थना करती हैं । अंगारे न बरसनेपर अशोकवृक्षसे दुःख हर लेनेके लिये विनय करती हैं । इतने विरह एवं वियोगमें भी भारतीय नारीके मनमें अपने पतिकी कुशलता जाननेकी उत्सुकता बनी रहती है, तभी तो सीताजी हनुमान्जीके मिलनेपर अपना दुःख भूलकर राम-लक्ष्मणकी कुशल ही पूछती हैं—'अनुज सहित सुख भवन खरारी' । और फिर उनके दर्शनोंके लिये व्याकुल हो उठती हैं—'कबहुँ नयन मम सीतल ताता । होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता' । पतिव्रता नारी पतिके गौरव एवं मर्यादाके लिये कठिन-से-कठिन कार्य करनेके लिये उद्यत रहती है । साथ ही उसमें आत्म-विश्वास भी रहता है । इसीसे तो सीताजी अग्निपरीक्षा देनेके लिये तैयार हो गयीं और लक्ष्मणसे बोलीं—

प्रभु के बचन सीस धरि सीता । बोली मन क्रम बचन पुनीता ॥
लछिमन होहु धरम के नेगी । पावक प्रगट करहु तुम्ह बेगी ॥
(मानस ६ । १०८ । २)

अनसूयाजीकी शिक्षामें भी पति-भक्तिकी अमिट छाप दिखायी देती है । वे सीताजीसे कहती हैं—

मातु पिता भ्राता हितकारी । मितप्रद सब सुनु राजकुमारी ॥
अमित दानि भर्ता बयदेही । अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना । नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥
एकइ धर्म एक ब्रत नेमा । काय बचन मन पति पद प्रेमा ॥
(मानस ३ । ५ । ३–५)

पतिव्रता नारी सदैव धर्मपरायण, कर्तव्यपरायण ही होती है, तभी तो मन्दोदरी बार-बार रावणके अनैतिक कार्यको जानकर विनती करती है कि श्रीराम ईश्वरके अवतार हैं, तुम उनसे वैर छोड़ दो । वे तुम्हें अवश्य क्षमा कर देंगे । साथ ही उनसे प्रीति करनेको भी कहती है ।

पुरुष विपत्ति पड़नेपर घबरा जाता है, किंतु नारी विपत्तिमें जल्दी विचलित नहीं होती । वनवासकी बात सुनकर कौसल्या ऐसी सूख गयीं जैसे बरसातके पानीमें जवास । किंतु धैर्य नहीं खोती हैं और माता-पिताकी आज्ञा जानकर धर्म-निभानेहेतु श्रीरामको वन जानेकी आज्ञा दे देती हैं तथा दशरथजीको भी शोक छोड़कर विचार करनेके लिये कहती हैं । कौसल्याकी इस धैर्यपूर्ण भावनाको तुलसीदासजीने निम्नपङ्क्तियोंमें बड़े ही जीवन्त ढंगसे उभारा है—

नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू॥
करनधार तुम्ह अवध जहाजू।चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥
धीरज धरिअ त पाइअ पारू। नाहिं त बूड़िहि सबु परिवारू ॥
जौं जियँ धरिअ बिनय पिय मोरी।रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी॥
(मानस २ । १५४ । ३-४)

अहल्या भी कौसल्यासे कम धैर्यवती नहीं हैं। गौतम ऋषिके त्यागनेपर धीरज रखकर वर्षोंतक भूखी-प्यासी रहकर निर्जन कुटियामें तपस्यामें लीन रहीं, तभी तो (विश्वामित्र और) तुलसीदासजीकी वाणीसे निकल पड़ा—।

गौतम नारी श्राप बस उपल देह धरि धीर।

सीताजीने भी—चाहे वे वनमें रहीं, चाहे अशोक-वाटिकामें, कभी धैर्य न छोड़ा।

तुलसीदासजीने नारीहृदयको भक्तिका स्थान बताया है। पार्वतीके मनमें शिवजीके लिये, सीताजीके मनमें रामके लिये और कौसल्याके मनमें ईश्वरके लिये अटूट श्रद्धा, विश्वास व अगाध भक्ति दर्शाकर तुलसीदासजीने अपनेको सौभाग्यशाली माना है। साथ ही भील जातिमें जन्म लेनेवाली शबरी भी भक्ति-भावनामें किसीसे कम नहीं उतरती। वह प्रभुको देखकर तन-मनकी सुध ही बिसरा बैठी।

नारीके इन सहज एवं प्रकृतिजन्य महत्त्वपूर्ण गुणोंके अतिरिक्त, तुलसीदासजीने नारीस्वभावमें निहित उन अन्य गुणोंको भी अछूता नहीं छोड़ा, जिसके कारण नारी सदा-सदासे पुरुषोंके हृदयमें अपना सम्मानपूर्ण स्थान रखती आयी है। तुलसीदासजीके मानसकी नारियाँ जहाँ त्याग और ममताकी प्रतिमूर्ति हैं, वहीं वे समय पड़नेपर ईर्ष्या एवं क्रोधकी साक्षात् प्रतिमा बनकर पत्थर-को भी भस्म करनेकी शक्ति रखती हैं। कहना न होगा कि मानसका एक-एक नारीपात्र इस रूपमें सामने उभरकर आता है, मानो जीवनकी सारी सहज स्वाभाविकता एक साथ आकर सिमट गयी हो।

श्रीकृष्णभक्त बहन रेहाना तैय्यबजी

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

मैंने गाँधीजीकी सुप्रसिद्ध शिष्या एवं विख्यात अब्बास तैय्यबजीकी सुपुत्री स्व० बहन कुमारी श्रीरेहाना तैय्यबजीकी श्रीकृष्ण-भक्तिके विषयमें बड़ी चर्चा सुनी थी और यह प्रसिद्धि भी सुनी थी कि वे इस युगकी साक्षात् मीरा हैं। हमारा मन बरबस उनके दर्शनोंके लिये लालायित हो उठा। मैंने उन्हें एक पत्र लिखा कि हम आपसे भेंट करना चाहते हैं। इसपर बहन रेहानाजीने मुझे १२ जून सन् १९६२को दिनके ११–३० बजेसे १२–३० बजे मध्याह्नतकका समय दे दिया।

मैं अपने पुत्र सरितको लेकर पिलखुवासे दिल्ली-स्थित काका साहब कालेलकरके निवासस्थानपर जा पहुँचा और ११ बजेसे लगभग आधा घंटेतक हम काका साहबसे विभिन्न विषयोंपर चर्चा करते रहे।

श्रीकृष्ण-भक्तिका अद्भुत दृश्य

निश्चित समय ठीक ११–३० बजे हम श्रीरेहाना बहनके कमरेमें प्रविष्ट हुए। सामने एक लकड़ीकी चौकी-पर बहन रेहानाजी बैठी हुई थीं और उनके समक्ष थी भगवान् श्रीकृष्णकी एक बड़ी ही मनमोहिनी प्रतिमा, जिसके ऊपर उन्होंने सुगन्धित पुष्प भी चढ़ा रखे थे। पासमें पूजाकी घंटी रखी हुई थी। भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिके समीप ही वे बैठी हुई थीं। पासमें श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद् आदि ग्रन्थ रखे हुए थे। एक अहिन्दू-परिवारमें जन्म लेकर भी भगवान् श्रीकृष्णकी उपासना एवं सर्वोच्च हिंदू-धर्मग्रन्थोंका स्वाध्याय और भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिकी पूजा करते देखकर हमारा सिर उनके चरणोंमें झुक गया।

हम अपने साथ कुछ फल ले गये थे। हमने उन्हें उनके सामने रख दिये। वे झट उठीं और उन फलोंको अपने परम इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णके सामने अर्पण करके उनमें उन्होंने तुलसीपत्र छोड़े और फिर अपनी आँखें बंदकर भगवान्को भोग लगानेका मन्त्र पढ़ा, घंटी बजायी और बैठ गयीं। उन्होंने फल-प्रसाद सब उपस्थित लोगोंको बाँट दिये।

योगी और भोगीका अन्तर

वार्ताके मध्य हमने प्रश्न किया आपकी दृष्टिमें देशमें बढ़ रही दिनोंदिन नास्तिकता व अशान्तिका मूल कारण क्या है ?

इसपर आप बड़ी गम्भीर होकर बोलीं—'भाई साहब ! जब योगी भोगीको अपना मार्गदर्शक मानकर उससे कुछ सीखनेका प्रयत्न करने लगेगा तो समझ लीजिये कि उस समय महान् घोर कलियुग आ जायगा एवं अनाचार, पापाचार, अत्याचार और व्यभिचार आदि बढ़ जायँगे । भारत एक धर्मप्राण योगियोंका परम पवित्र महान् देश है । अन्य पश्चिमी देश भोगियोंके देश हैं और भौतिकवादियोंके केन्द्र हैं । भारतकी भूमिपर भगवान्के श्रीमङ्गलमय चरण पड़े हैं और इसकी पवित्र धरतीपर स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अवतार लेकर लीलाएँ की हैं । त्याग एवं वैराग्यका यह केन्द्र रहा है । अतः यदि भोगी (पश्चिमी देश) हमसे (भारतसे) कुछ शिक्षा ग्रहण करें तो ठीक है, पर यदि उलटे हम (योगी) ही उन महान् भौतिकवादी भोगियोंके पीछे दौड़ेंगे तो उसका परिणाम क्या होगा, इसका अनुमान लगा लीजिये । आजकल बिल्कुल ठीक वही हो रहा है । आज उलटी गङ्गा बह रही है । जहाँ कभी पश्चिमी देश भारतको धर्मभूमि और योगियोंका परमपवित्र देश मानकर उससे शिक्षा ग्रहण किया करते थे, वहाँ आज हम भारतीय उल्टे भोगी देशोंको अपना पथप्रदर्शक (गुरु) मानकर उनका अन्धानुकरण करनेमें ही महान् गौरवका अनुभव कर रहे हैं । देशके घोर अधःपतनका यही मूल कारण है ।

श्रीकृष्णकी उपासिका

मैंने पुनः प्रश्न किया—कुछ लोग भगवान् श्रीकृष्णको ऐतिहासिक पुरुष नहीं मानते । उधर कुछ लोग उन्हें ऐतिहासिक पुरुष तो मानते हैं, पर उन्हें वे भगवान्का साक्षात् अवतार नहीं मानते ? इन विषयोंपर आपका मत क्या है ?

इस प्रश्नपर श्रीरेहानाजी कुछ भड़क उठीं और वे बोलीं—'जो लोग भगवान् श्रीकृष्णके अस्तित्वमें विश्वास नहीं रखते, वे कोरे अज्ञानी हैं । कोई उनके अस्तित्वमें विश्वास करे या न करे सत्य तो सत्य ही है । भगवान् श्रीकृष्ण समय-समयपर आज भी साक्षात् प्रकट होकर भक्तोंको अपना दर्शन दिया करते हैं । श्रीमीराबाईको उन्होंने प्रत्यक्ष दर्शन दिये थे । सूरदासजीके भी समक्ष प्रकट होकर उन्हें अपनी संनिधि प्रदान की थी । नरसी भगतकी उन्होंने स्वयं प्रकट होकर सहायता की थी और उनका भात भरा था । धर्मपर विपत्ति आनेपर वे अवतार लेकर धर्मद्रोहियोंका सदा संहार किया करते हैं । उनके अस्तित्वमें विश्वास न करनेवाले अज्ञानी हैं ।' यह कहते हुए रेहानाजी श्रीकृष्ण-प्रेममें अत्यन्त विह्वल हो उठीं ।

हमने उनसे पुनः प्रश्न किया—'गाँधीजीने भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्णको तथा रामायण और महाभारतको ऐतिहासिक न मानकर काल्पनिक लिखा है । इस सम्बन्धमें आपका क्या मत है ?' बहन रेहानाजी बोलीं—"पूज्य गाँधीजी हों अथवा अन्य कोई भी क्यों न हों, वे इस विषयमें जो कुछ कहते हैं, अपनी समझसे ही तो कहते हैं । मजेकी बात तो यह है कि जो ऐसा कहते हैं, वस्तुतः वे उन्हें तत्त्वतः जानते नहीं । जो जानते हैं, वे ऐसा कह ही नहीं सकते । भगवत्तत्त्व बड़ा गूढ और विलक्षण है । इस जाननेयोग्य परम तत्त्व—श्रीकृष्णको जिसने जान लिया है, वही उस अनिर्वचनीय रसानुभूतिका अनुभव कर सकता है । श्रीकृष्ण-प्रेम ऐसा ही अनूठा है । इसकी टीसको जिसने अनुभव किया है, वही उस दिव्यानन्दको जान सकता है—

नहीं इश्कका* दर्द लज्जतसे खाली
जिसे 'जौक' है वह मजा† जानता है।

'भगवान् श्रीराम अथवा श्रीकृष्णको काल्पनिक बताने-वाले स्वयं बिन्दुके समान हैं और भगवान् श्रीकृष्ण अथवा राम अनन्त सिन्धु हैं। भला बिन्दु सिन्धुका क्या मुकाबला कर सकता है? कहाँ एक बूँद और कहाँ अथाह समुद्र! क्या कभी बिन्दुको सिन्धुकी गम्भीरताका पूरा ज्ञान हो सकता है? असम्भव!! अतः लोगोंकी इस प्रकारकी उक्तियोंका कोई मूल्य नहीं है।'

'आप मुस्लिम-परिवारकी होकर भी भगवान् श्रीकृष्ण-की उपासना कबसे और कैसे करती हैं?' इस प्रश्नपर स्व० रेहाना बहनने कहा—"यह सच है कि मैंने एक मुस्लिम-घरमें जन्म लिया, पर मेरे संस्कार अस्सी प्रतिशत हिंदू हैं। यह भी सच है कि असलमें हम हिंदू ही थे, हिंदुस्तानमें ही पैदा हुए, कहीं बाहरसे नहीं आये। मैं बचपनसे ही पूर्व-जन्म मानती थी, श्रीकृष्णको अपने दिलमें बैठाये फिरती थी। बचपनमें वेदान्त पढ़ती और उसे समझती थी। घरसे अलग रहकर कुछ अजब मानसिक और आध्यात्मिक सूनापन-सा महसूस किया करती थी। जब मेरी उम्र ८ वर्षकी थी तभी मैंने किसीसे सुना था—'The Hindus are idolaters.' —हिंदू लोग बुतपरस्त हैं। इसपर मैंने झुँझलाकर कहा था कि 'The Hindus are not idolaters. They do not worship the idols, but worship the idea behind it. अर्थात् हिंदू मूर्तिपूजक नहीं हैं, वे मात्र मूर्ति नहीं पूजते, बल्कि उसके पीछे जो कुछ तत्त्व है, उसे ही पूजते हैं।' वास्तविकता यह है कि श्रीकृष्ण-भक्ति मुझे पिछले जन्मके संस्कारोंके कारण ही मिली है, मैं ऐसा ही मानती हूँ। मेरे परिवारवाले मुझे गीता पढ़ते देखकर, श्रीकृष्णकी भक्ति करते देखकर और श्रीकृष्ण-भक्तिके भजन गाते हुए सुनकर अपनी धर्मान्धताके कारण मुझसे काफी नाराज रहते थे, किंतु पूर्वजन्मके मेरे संस्कारोंने ही मेरी काफी मदद की। ये संस्कार ही मुझे यह सब करनेपर मजबूर करते रहे हैं।'

पुनर्जन्ममें विश्वास

स्व० बहन श्रीरेहानाजी हिंदू-धर्मके पुनर्जन्मके सिद्धान्तमें दृढ़ विश्वास रखती थीं। पुनर्जन्मके सम्बन्धमें हमारे प्रश्न करनेपर उन्होंने कहा—'साधारणतः कोई प्रश्न कर सकता है कि तुम्हारे पास क्या सबूत है कि जीव मृत्युके बाद दुबारा जन्म लेता है?' इसके उत्तरमें कुछ लोग कह सकते हैं कि 'कोई नहीं।' परंतु मैं पूछती हूँ कि क्या उनके पास कोई सबूत है कि 'पुनर्जन्म नहीं होता?' इसका सामान्य-सा उत्तर यही होता है कि नहीं, कोई सबूत तो नहीं है, पुनर्जन्मकी बात भ्रममात्र मालूम होती है। ऐसा उत्तर देनेवालोंसे मुझे कहना होगा कि आपको न कुछ अभ्यास है, न अनुभव। आपने तुरंत भ्रम मान लिया। यदि भ्रम है तो मैं बड़े भव्य भ्रमितोंकी पंगतमें हूँ। क्योंकि मैंने तो स्वयं ही अपने जीवनमें पुनर्जन्मकी सत्यताका अनुभव किया है।'

गीतासे प्रेरणा

स्व० श्रीरेहाना बहनको श्रीमद्भगवद्गीताके प्रति अटूट श्रद्धा थी। गीताको वे महान् एवं अद्वितीय धर्मग्रन्थ मानती थीं। वे अपनी आत्मकथा—'सुनिये काका साहब' में लिखती हैं—'सन् १९२३में मेरे जीवनमें गीताजी प्रकट हुईं। मैंने यंग इण्डिया (Young India) में बापूद्वारा की गयी गीताकी तारीफ पढ़ी। मैं गीता ले आयी। उसे पढ़ा और पढ़ते-पढ़ते मेरे दिल-दिमागपर गोया बिजलियाँ गिरती चली गयीं। मैं पागल हो गयी, विह्वल हो गयी और व्याकुल हो गयी। मैंने लगातार उसे बीस बार पढ़ लिया, फिर भी उसे हाथसे अलग न रख

* वक्ताका आशय यहाँ दिव्य भगवत्प्रेमसे है।
† दिव्यानन्दानुभूति।

सकी । रातको तकिये-तले रखकर सोती । मेरी आँखोंके सामने एक अद्भुत सुन्दर, तेजोमय, आनन्दमय दुनिया गोया खुल गयी । गीताके सात सौ श्लोकोंमें मुझे चौदह ब्रह्माण्डोंके रहस्य नजर आने लगे । मेरे सभी सवालोंके एकदमसे ज़वाब मिल गये । हर उलझनका सुलझाव मिल गया । हर अँधेरेका दीपक मिल गया । हर गुमराहीको रहनुमा (मार्गदर्शक) मिल गया । गीतामें मैंने सब कुछ पा लिया ।'

'रेहाना बहन नियमित गीताका पाठ किया करती थीं । गीताके सभी श्लोक उन्हें कण्ठस्थ थे । वे श्रीमद्भगवद्गीताको सम्मानपूर्वक 'गीता शरीफ' कहकर पुकारा करती थीं ।

अंग्रेजी शिक्षाको रेहाना बहन मानसिक गुलामीका प्रतीक मानती थीं । एक बार उन्होंने बड़े दुःखभरे शब्दोंमें कहा था—'अंग्रेजी शिक्षाने तो हमारे मस्तिष्कको विकृत कर डाला है और अंग्रेजी दवाओंने शरीरको ।'

देशभक्त परिवार

रेहाना बहनने सन् १९०१में एक गुजराती मुस्लिम परिवारमें जन्म लिया था । तैय्यबजीका परिवार देशभक्तिके लिये विख्यात रहा है । पूरा परिवार गाँधी-भक्त रहा है । रेहानाजीके नाना न्यायमूर्ति बदरुद्दीन तैय्यबजी, उनके पिता अब्बास तैय्यबजी तथा परिवारके अन्य सभी सदस्योंने जहाँ ऊँचे-ऊँचे पदोंपर कार्य किये हैं, वहीं देशभक्तिके कार्योंमें भी वे किसीसे पीछे नहीं रहे हैं । उनके पिता अब्बास तैय्यबजी प्रसिद्ध और प्रमुख देशभक्त रहे हैं । रेहाना बहन भी वर्षोंतक गाँधीजीके आश्रममें उनकी शिष्याके रूपमें रही थीं । गाँधीजीकी प्रेरणासे नमक-सत्याग्रहमें भी उन्होंने डटकर भाग लिया था ।

रेहानाजीने अपनी पुस्तक 'गोपी-हृदय'में श्रीकृष्ण-भक्तिकी अनोखी आध्यात्मिक आत्मलक्षी कहानी लिखी है । 'नापतेसे पहले' उनका कहानी-संग्रह है । 'कृपाकिरण' श्रीकृष्णभक्तिसे ओत-प्रोत भजनोंका संग्रह है । हिंदू-धर्म, हिंदू-दर्शन एवं हिंदू-आचार-विचारोंके प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति एवं दृढ़ विश्वास वस्तुतः प्रशंसनीय है । थोड़ेमें—रेहानाजीको हमने जैसा सुना, वैसा ही पाया ।

प्रेमी भक्तकी अभिलाषा

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥

(श्रीमद्भागवत १० । ४७ । ६१)

(श्रीउद्धवजी कहते हैं—) 'क्या ही अच्छा होता यदि मैं इस वृन्दावनमें कोई झाड़ी, लता या जड़ी-बूटी बना पड़ा रहता, जिससे मुझपर यहाँकी उन गोपियोंके चरणोंकी धूलि निरन्तर पड़ती रहती, जिन्होंने बड़ी कठिनाईसे छोड़े जा सकनेवाले अपने सगे-सम्बन्धियों और लोक-वेदकी सारी आर्य-मर्यादाओंको छोड़कर मुकुन्दका वह पद (श्रीकृष्णके साथ तन्मयता, श्रीकृष्णका परम प्रेम) प्राप्त कर लिया, जिसे वेद भी अभीतक ढूँढ़ते ही रह गये (प्राप्त नहीं कर पाये) ।'

सदाचारसे सुख

[सुप्रसिद्ध अमेरिकन लेखक डेल कार्नेगीके विचार]

हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि यदि हम सारी दुनियाके मालिक बन जायँ और केवल अकेले ही उस वैभवको भोगें तो भी दिनमें तीन बारसे अधिक भोजन नहीं कर सकते तथा रातमें एकसे अधिक बिस्तरपर सो नहीं सकते, फिर सदाचारी जीवन क्यों न व्यतीत करें। संत फ्राँसिसने प्रभुसे प्रार्थना की है—'हे प्रभु ! मुझे अपनी शान्तिका उपकरण बना, ताकि मैं घृणाके बदले प्रेम, अपकारके बदले क्षमा, नैराश्यके बदले आशा, अन्धकारके बदले प्रकाश तथा उदासीके बदले उल्लासके भाव प्रकट कर सकूँ। हे परमपितः ! मुझे वरदान दें कि मैं अपने धैर्यकी चिन्ता न कर दूसरोंको धैर्य दे सकूँ। दूसरोंका प्रिय बननेकी लालसा न रखकर उनको प्यार कर सकूँ। क्योंकि हम देकर ही ले सकते हैं, क्षमा करके ही क्षमाके पात्र बन सकते हैं, दूसरोंके लिये मरकर ही हम अमर बन सकते हैं।'

'अपनी चिन्ता मत करो, क्या खाओगे, क्या पिओगे और क्या पहनोगे, यह भी मत सोचो। मौज-शौक और खान-पानके अतिरिक्त जीवनका अपना विशेष महत्त्व है। उन उड़ते पक्षियोंको देखो, वे अन्न नहीं बोते, फसल नहीं काटते और कोई भंडार भी नहीं भरते, फिर भी परमपिता परमात्मा उनका पोषण करता है। फिर तुम तो उनसे भी अधिक अच्छी स्थितिमें हो'—यह अमरवाणी महापुरुष ईसा की है—'पहले अध्यात्म एवं सत्यकी साधना करो। अन्य सभी वस्तुएँ अपने-आप ही तुम्हें मिल जायँगी।'

विलियम जेम्सने कहा है—'धर्म उन शक्तियोंमेंसे है, जिनके सहारे मनुष्य जीता है। उस शक्तिके नितान्त अभावका अर्थ है मृत्यु।' भगवान्‌की कृपाके बिना जीवनका बेड़ा पार नहीं लग सकता। धार्मिक श्रद्धा और सदाचारी जीवन चिन्ता रोकनेकी रामबाण दवा है। यदि हम ईश्वरके आज्ञानुसार सदाचारी जीवन जीयें, तो एक दिन सब कुछ ठीक हो जायगा। थियोडोर फ्रेजरका कहना है—'यदि कोई अपने जीवनमें आनन्द प्राप्त करना चाहे तो उसे केवल अपनी ही नहीं, दूसरोंकी भलाई करनेका भी प्रयत्न करना चाहिये। दूसरोंकी सेवामें अपनेको भूल जानेवाला व्यक्ति जीवनका आनन्द अवश्य उठायेगा। मनुष्य अपने जीवनका मोह करके उसे खो बैठेगा और जो अपने जीवनको दूसरोंके लिये खो देगा वह उसे पा लेगा।'

मिटा दे अपनी हस्ती को, अगर कुछ मर्तबा चाहे।
दाना खाकमें मिलकर गुले गुलजार होता है॥

पारसियोंके धर्मगुरु जरथुस्त्रका कहना है कि 'दूसरोंकी भलाई करना हमारा परम कर्तव्य है, यह एक ऐसा आनन्द है जो हमारे सुख और शान्तिकी वृद्धि करता है।'

बेंजामिन फ्रैंकलिनने कहा है—'दूसरोंके प्रति भले बनकर ही आप अपने लिये अच्छे बन सकते हैं।'

हजरत मुहम्मदने कहा है—'अच्छा काम वही है, जो दूसरोंके चेहरेको प्रसन्नतासे खिला दे। प्रत्येक घटनाके उज्ज्वल पक्षको देखनेकी आदतका मूल्य वार्षिक हजार रुपयेसे भी अधिक है। पथ्य, मौन, और प्रसन्नता संसारके सबसे बड़े कुशल हकीम हैं।' जरथुस्त्र कहते हैं—'आदर्श पुरुष वह है, जिसको दूसरोंका उपकार करनेमें सुख मिले और जो दूसरोंके उपकार ग्रहण करनेमें लज्जाका अनुभव करे। दूसरोंपर कृपा करना महानता है, किंतु दूसरोंकी कृपा प्राप्त करना हीनताका परिचायक है।'

कन्फ्यूशियस कहते हैं—'क्रुद्ध व्यक्ति सदा विषसे भरा रहता है।' एपिक्टेन्टसका कथन है—'हम जैसा करते हैं वैसा भरते हैं। भाग्य हमें सदा ही किसी-न-किसी रूपमें अपने दुराचारका मूल्य चुकानेके लिये बाध्य करता है।' उसका कहना था कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने दुराचारका दण्ड अवश्य भोगना ही पड़ता है। जो व्यक्ति इस बातका ध्यान रखेगा वह किसीसे नाराज न होगा, गाली-गलौज नहीं करेगा, किसीको दोष नहीं देगा, किसीको उत्तेजित नहीं करेगा और किसीसे घृणा भी नहीं करेगा।'

संत ईसाने कहा है—'अपने शत्रुपर प्रेमभाव रक्खो, जो तुम्हें शाप दे उसे आशीर्वाद दो, जो तुमसे घृणा करे, उसका भला करो। जो ईर्ष्यावश तुमसे अनुचित लाभ उठाये तथा पीड़ा पहुँचाये, उसके भलेके लिये प्रार्थना करो।'

(अनुवादक—श्रीबदरुद्दीन राणपुरी 'दादा')

अतिथिसेवी विनायकदेव और महाराज शिवाजी

बादशाह औरंगजेबने भेंट करनेके लिये शिवाजीको दिल्ली बुलवाया और वहाँ पहुँचनेपर उसने उनको बंदी बना लिया। ऐसे विश्वासघाती शत्रुके साथ कूटनीति अपनाये बिना निस्तार न था। शिवाजीने बीमारीका बहाना किया। ब्राह्मणोंको मिठाईके टोकरे दान करने लगे। एक दिन स्वयं तथा उनके पुत्र सम्भाजी मिठाईके टोकरोंमें छिपकर बैठे और औरंगजेबके जालसे निकल गये।

मार्गमें शिवाजी बीमार हो गये। उनके साथ उनके दो विश्वस्त सेवक थे—तानाजी और येसाजी। तीव्र ज्वरमें यात्रा करना निरापद नहीं था। मुर्शिदाबादमें बहुत प्रयत्न करनेपर इन गुप्तवेश-धारियोंको विनायक-देव नामक एक ब्राह्मणने अपने यहाँ आश्रय देना स्वीकार किया। शिवाजीको लगा कि स्वस्थ होकर यात्रा करने योग्य होनेमें पर्याप्त समय लगेगा, अतः उन्होंने साथियोंसे आग्रह किया—'आप दोनों सम्भाजीको लेकर महाराष्ट्र चले जायँ, राज्यकी सुरक्षा एवं ठीक प्रशासन आवश्यक है। मैं स्वस्थ होकर आऊँगा।'

साथियोंको विवश होकर यह आदेश मानना पड़ा। लेकिन तानाजीने कुछ दूर जाकर येसाजीसे कहा—'आप सावधानीसे सम्भाजीको ले जायँ। मैं यहीं गुप्तरूपसे स्वामीकी देख-रेख रक्खूँगा।' सेवककी स्वामिभक्ति सेवाके लिये व्यग्र हो उठी।

छत्रपति शिवाजीने अपना वेश बदल रक्खा था। ब्राह्मण विनायकदेव उन्हें गोस्वामी जानता था। वह अत्यन्त विरक्त स्वभावका था। माताके साथ रहता था। उस विद्वान् ब्राह्मणने विवाह किया ही न था। भिक्षा ही आजीविकाका साधन थी। परिग्रहकी प्रवृत्ति उसे छू नहीं गयी थी। जितनेसे एक दिनका काम चले, उतनी ही भिक्षा प्रतिदिन लाता था। एक दिन भिक्षा कम मिली। ब्राह्मणने भोजन बनाकर माता तथा शिवाजीको खिला दिया और स्वयं भूखा रह गया। छत्रपति शिवाजीके लिये अपने आश्रयदाताकी यह दरिद्रता असह्य हो रही थी। उन्होंने सोचा—'दक्षिण जाकर धन भेजूँगा, किंतु इसका क्या विश्वास कि वह धन यहाँतक सुरक्षित पहुँच ही जायगा। फिर यह बात प्रकट होनेपर यवन बादशाह बेचारे ब्राह्मणको क्या जीवित रहने देगा?' दुराचारकी सीमामें अन्योंकी उदारता भी अभिशाप बन जाती है।

अन्तमें छत्रपतिने ब्राह्मणसे कलम-दावात, कागज लेकर एक पत्र लिखा और उसे वहाँके सूबेदारको दे आनेको दिया। पत्रमें लिखा था—'शिवाजी इस ब्राह्मणके घर टिका है। इसके साथ आकर पकड़ लें। लेकिन इस सूचनाके लिये ब्राह्मणको दो हजार अशर्फियाँ दे दें। ऐसा नहीं करनेपर शिवाजी हाथ आनेवाला नहीं है।' शिवाजीका भीतरी सदाचार अक्षरोंमें देदीप्यमान था। कृतज्ञता, उदारता और उदात्तताका यह प्रकरण सदाचार-सीमाकी पताका है।

सूबेदार जानता था कि शिवाजी बातके धनी हैं और उनकी इच्छाके विरुद्ध उन्हें पकड़ लेना हँसी-खेल नहीं है। शिवाजीको दिल्ली-दरबारमें उपस्थित करनेपर बादशाहसे पुरस्कारमें एक सूबातक मिल सकना सम्भव था। इसलिये दो सहस्र अशर्फियाँ लेकर वह ब्राह्मणके घर गया और वह थैली वहाँ देकर शिवाजीको अपने साथ ले चला। शिवाजीकी सत्यता सदाचारकी दृढ़ताके प्रति प्रभूत उदात्त थी।

ब्राह्मणको अबतक कुछ पता न था। अब सूबेदार उसके अतिथि गोस्वामीको जब अपने साथ लेकर चला तब ब्राह्मण बहुत दुःखी हुआ। अचानक उसे गोस्वामीके साथी तानाजी दिखलायी पड़े। वह उनके पास गया। उनसे उसने गोस्वामीके सूबेदारद्वारा पकड़कर ले जानेकी बात सुनायी। तानाजीने बताया—'शिवाजी गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक छत्रपति थे। मैं उनका सेवक हूँ।' ब्राह्मण तो यह सुनते ही मूर्छित हो गया। चेतना लौटनेपर वह सिर पीट-पीटकर रोने लगा—'वे मेरे अतिथि थे। मुझ अधमकी दरिद्रता दूर करनेके लिये उन्होंने अपने-आपको मृत्युके मुखमें दे दिया। मुझ पापीके द्वारा ही वे शत्रुके हाथों दिये गये।' वदान्यता, उदारताकी कृतज्ञता उसे ग्लानि-भीत कर रही थी। दो सदाचारी पुरुषोंकी भावनाओंकी प्रतिस्पर्धा बोल रही थी।

ब्राह्मण बार-बार हठ करने लगा कि दो सहस्र अशर्फियाँ तानाजी ले लें और उनसे किसी प्रकार छत्रपतिको छुड़ायें। तानाजी पहले ही पता लगाकर आये थे कि सूबेदार कल किस समय, किस मार्गसे शिवाजीको दिल्ली ले जायगा। ब्राह्मणको उन्होंने आश्वासन दिया। सूबेदार छत्रपतिको लेकर सिपाहियोंके साथ रात्रिमें चला, वनमें पहुँचते ही तानाजीने अचानक आक्रमण कर दिया। उनके साथ पचास सैनिक थे। शिवाजीको उन्होंने सूबेदारके हाथसे छुड़ा लिया। इस प्रकार शिवाजी मुक्त हो गये। ठीक ही है—

'न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।'

दृष्टिहीन और दृष्टिवान्

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त, 'हरि')

दृष्टिहीन कौन है ?

वह जो जाने क्या-क्या देखता है और जो देखता है, उसमेंसे कुछको अपना, कुछको पराया करके जानता-पहचानता है। 'मैं' और 'तू', 'तेरा' और 'मेरा'की मनमानी सृष्टि कर बैठता है।

और दृष्टिवान् ?

वह जिसकी दृष्टिमें वस्तुतः जो है, उसे छोड़ अन्य कुछ और कोई है ही नहीं। सर्वत्र उसे एक वही नजर आता है, जिसका वह स्वयं साक्षी है। उसे द्रष्टा और दृश्यकी भिन्नता भी कहाँ दिखायी देती है। तब वह तो आत्मविभोर-सा उस एककी ही छविको कण-कण, अणु-अणुमें निहार, एक अद्भुत अनिर्वचनीय आनन्दानुभूतिसे सराबोर हो, निहाल हो जाता है—

जग में आकर इधर-उधर देखा,
तू ही आया नजर, जिधर देखा।

प्राचीन और आधुनिक शिक्षाका अन्तर

(लेखक—गोस्वामी श्रीलक्ष्मणपुरीजी, एम० ए०, साहित्यरत्न)

बात बहुत पहलेकी है, रघु ससागरा पृथ्वीके स्वामी थे और साकेतनगरी (अयोध्या) उनकी राजधानी थी। उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति विश्वजित्-यज्ञमें दे डाली थी। पानी पीनेके लिये उनके पास मात्र मिट्टीका सकोरा और खानेके लिये मिट्टीकी थाली रह गयी थी। उन्हीं दिनों वरतन्तु (विश्वामित्र)के शिष्य कौत्स नामक तपस्वी और विद्वान् उनके पास पहुँचे। बात यह थी कि वरतन्तु अध्यापनका काम करते थे। अनेक ब्रह्मचारी उनके आश्रममें रहकर अध्ययन करते थे। प्राचीन आचार्योंने चौदह विद्याओं तथा धर्मस्थानोंको पठनीय माना था—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥
(याज्ञव० स्मृ० ११३)

वरतन्तु ऋषि चौदह विद्याओंके निधान थे और उनका तप इतना बढ़ा-चढ़ा था कि इन्द्रको भी अपने आसन छिन जानेकी चिन्ता होने लगी थी। इन्हीं वरतन्तुके आश्रममें कौत्स भी अध्ययन करते थे। जब वे अध्ययन समाप्त कर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करने योग्य हुए तो वरतन्तुने उन्हें घर जानेकी आज्ञा दी, परंतु उन्होंने गुरुको गुरुदक्षिणा बिना दिये घर न जानेकी अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट की। वरतन्तुने कहा—शिष्यकी सेवा और गुरुभक्तिकी तुलनामें दक्षिणा कोई वस्तु नहीं—तुमसे मैं कुछ नहीं चाहता। फिर भी कौत्सने हठ किया और कहने लगे—मेरा अनुरोध है कि मुझे अपना सेवक समझकर कुछ मुँहसे जरूर कहिये। शिष्यके हठसे महर्षिका शान्त चित्त क्षुब्ध हो उठा। कहा भी गया है—

अति संघरषन जौं कर कोई। अनल प्रगट चंदन ते होई ॥
(मानस ७ । ११८ । ८)

उन्होंने रोषमें आकर उसकी निर्धनताका तनिक भी ध्यान न कर कहा कि मैंने तुझे चौदह विद्याएँ पढ़ायी हैं; अतएव एक-एक विद्याके बदले एक-एक करोड़ स्वर्णमुद्रा मुझे ला दे। पर कौत्स जरा भी घबराये नहीं और 'जो आज्ञा' कह गुरुको प्रणाम कर वहाँसे चल दिये।

ब्रह्मचारीका जीवन उन दिनों बड़े संयम और नियमका होता था और गुरुके प्रति परम श्रद्धा होती थी। आज पाश्चात्त्य सभ्यताकी हवाने, चित्रपटोंमें रोक-एन-रोलके नृत्योंने, बालकोंमें कुत्सित भावनाओंको उभारनेवाले सस्ते गानोंने उनको ब्रह्मचर्य-पथसे विचलित कर दिया है। उनकी रुचि विद्याध्ययनसे अधिक सिनेमा देखनेमें रहती है; क्योंकि मनुष्यका मन कुत्सित भावोंकी ओर जिस प्रकार तेजीसे आकृष्ट होता है, उतना जीवनको उच्च और आदर्शमय बनानेवाली बातोंकी ओर नहीं।

एक ओर जहाँ आजके विद्यार्थी प्रायः ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन नहीं करते, वहीं दूसरी ओर वे शिक्षण-पद्धतिकी ओरसे भी उदासीन और भिन्न-भिन्न प्रकारके विषयोंकी ओर आकृष्ट रहते हैं। क्या आजकी पढ़ायी जाननेवाली विद्याएँ इन प्राचीन चौदह प्रकारकी विद्याओंके अन्तर्गत आती हैं? क्या ये विद्याएँ उसी प्रकार हमारे लिये जीवनोपयोगी हैं, जैसी प्राचीन विद्याएँ थीं? हम पश्चिमके भौतिकवादकी ओर आँख मूँदकर दौड़े जा रहे हैं, वह भी बिना सोचे-विचारे कि इसका परिणाम क्या होगा? इस वैज्ञानिक घुड़दौड़में, इस भौतिकवादमें हम अपनी आध्यात्मिक विरासत खो बैठे हैं और अपना हृदय, अपना आत्मबल गँवा बैठे हैं।

प्रश्न उठता है कि विद्यार्थीके क्या लक्षण होने चाहिये? एक संस्कृत विद्वान्‌ने कितनी शोध और अनुभवके आधारपर विद्यार्थीके पाँच लक्षण बतलाये हैं—

काकचेष्टा बकध्यानं शुनां निद्रा तथैव च।
अल्पाहारी गृहत्यागी विद्यार्थिपञ्चलक्षणम्॥
(चाणक्यसंग्रह)

'विद्यार्थीको कौएके समान चञ्चल होना चाहिये। प्रश्न एक बार न लगा तो दूसरी बार, तीसरी बार तो अवश्य लगे। और जिस तरह बगुला मछलीको पकड़नेके लिये ध्यानावस्थित रहता है, उसी प्रकार विद्यार्थीको भी एकाग्रचित्त होकर अपने पाठको पढ़ना चाहिये। जिस प्रकार कुत्ता थोड़ी-सी आहट पाकर जग उठता है और भौंकने लगता है, उसी प्रकार विद्यार्थीको भी जागरूक रहना चाहिये और कम नींद लेनी चाहिये। अधिक भोजन करनेसे आलस्य आ घेरता है, इसलिये विद्यार्थीको थोड़ा आहार करना चाहिये। चित्तमें स्थिरता घरसे दूर रहनेपर ही आ सकती है', तभी तो प्राचीन समयमें काशी, नालन्दा आदि दूरस्थ स्थानोंपर विद्याध्ययनके लिये लोग अपने बच्चोंको भेजते थे। क्या आजकलके विद्यार्थी इन पाँच लक्षणोंमें खरे उतर सकते हैं? हमें इसमें संदेह है; क्योंकि आजका विद्यार्थी आरामतलब एवं आलसी बन गया है। वह मात्र बाजारी कुंजियाँ पढ़कर पास होना चाहता है, स्वयं मेहनत करना नहीं चाहता। उसने अपने चित्तको चञ्चल करने और ध्यानभङ्ग करनेके इतने साधन जुटा रक्खे हैं कि वह चित्तको स्थिर एवं ध्यानको एकाग्र रख ही नहीं सकता। कुछ तो अनपढ़ और लापरवाह माता-पिताने और कुछ नवीन वैज्ञानिक आविष्कारोंने उसको अकर्मण्य बना दिया है।

हाँ, तो कौत्स राजा रघुके पास गये—उनके पास कुछ न होते हुए भी वे उस तपस्वी और विद्वान् कौत्सको बिना उसकी माँग एवं इच्छा पूरी किये जाने देना नहीं चाहते थे। इसलिये वे कुबेरपर चढ़ाई करनेके लिये अपना रथ सजाते हैं। पर सवेरे वे चलनेके पूर्व ही देखते हैं कि खजाना स्वर्णमुद्राओंसे भर गया है। राजा रघुने सब मुद्राएँ कौत्सके सामने रख दीं; परंतु कौत्सने केवल चौदहकोटि मुद्राएँ ही गिनकर लीं। फिर प्रश्न उठता है कि इन दोनोंमें कौन प्रशंसनीय है—राजा रघु या कौत्स? वस्तुतः दोनों प्रशंसनीय हुए।

आजकल आये दिन विद्यार्थियोंकी उच्छृङ्खलताकी खबरें हमें समाचारपत्रोंमें पढ़नेको मिलती हैं। प्रायः कभी बनारसमें अमुक विश्वविद्यालयमें विद्यार्थियोंकी हड़ताल है तो कभी पटनामें। कभी कुलपतिको तो कभी प्राध्यापकको घेरावमें लिया जाता है। ऐसा क्यों? विद्यार्थियोंमें संयम एवं अनुशासनका अभाव ही इसका एकमात्र कारण है।

मनुष्यमें संस्कार दो प्रकारके पाये जाते हैं—प्रथम जातिगत और दूसरा बाहरसे आया हुआ। कुछ विचार एवं संस्कार मनुष्यको पैतृक सम्पत्तिके रूपमें मिलते हैं तो कुछ संस्कार उसके आस-पासके वातावरण एवं परिस्थितियोंके कारण बनते-बिगड़ते हैं। दत्तात्रेयजी तो कुत्तेको भी अपना गुरु मानते थे। सच पूछा जाय तो विद्यार्थीका प्रथम गुरु उसकी माता है। जीवनके उस समयमें जबतक कि वह पाठशाला या स्कूल नहीं जाता, माताके संस्कार ही उसमें पलते हैं, पनपते हैं। महात्मा गाँधीपर उनकी माताका प्रभाव पड़ा, छत्रपति शिवाजीपर उनकी माताका असर पड़ा। यही कारण है कि कुछ लोग स्त्री-शिक्षाको भी आवश्यक समझते हैं। जब माता ही स्वयं पढ़ी-लिखी न होगी तो वह अपने बच्चेको क्या शिक्षा दे पायेगी? विद्यार्थीका दूसरा गुरु पिता और तीसरा पाठशाला, स्कूल एवं कालेजका अध्यापक होता है। उसके संस्कारोंकी छाप छात्रोंपर अवश्य पड़ेगी। जब शिक्षक ही कक्षामें लंबे बाल बढ़ाये, बेल-बोटम-पेन्ट पहने, नाखून बढ़ाये और सिगरेटका धुँआ उड़ाते हुए आयेंगे

तो लड़के क्यों न ऐसा करेंगे ? आजकल अध्यापकोंकी नियुक्ति उनके सर्टिफिकेट एवं उसमें मिली श्रेणीके आधार-पर होती है, उनके सदाचारके आधारपर नहीं। श्रेणी प्राप्त कर लेना एक बात है और वास्तविक योग्यता प्राप्त करना दूसरी। एक तृतीय श्रेणीके संयमी अध्यापककी योग्यता प्रथम श्रेणी पानेवाले अध्यापककी योग्यतासे कहीं अधिक और प्रभावोत्पादक हो सकती है। जब स्वयं अध्यापक ही अनुशासित न होंगे तो उनके विद्यार्थियोंसे उसकी क्या आशा की जा सकती है ?

पहले विद्यार्थी गुरुको आदर तथा श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते थे और गुरु भी शिष्यको योग्य बनानेमें अपनी प्रतिष्ठा एवं शान समझते थे। बड़े-बड़े साहित्यकार तो गुरुकी महिमा गाते नहीं थकते, जिनमें कबीर, तुलसी-दास, मीराँ आदि मुख्य हैं। संस्कृत-कवि तो गुरुको परब्रह्म मानते हैं।

तुलसीदासजीने 'काक-गरुड़-संवाद'में बतलाया है कि शिवमन्दिरमें गुरुको देख प्रणाम न करनेसे रुद्र स्वयं क्रुद्ध होकर शाप देते हैं और शापवश उनको काकका जीवन बिताना पड़ता है। विद्यार्थीमें गुरुके प्रति श्रद्धा, विश्वास और निष्ठा होना आवश्यक है, तभी वह विद्यामें फलीभूत हो सकता है। 'कौत्स' के ही समान विद्यार्थी-जीवनकी 'एकलव्यकी गुरुभक्ति' भी एक जीता-जागता प्रमाण है। सफल बनानेके लिये विद्यार्थीमें माता-पिता, गुरु एवं बड़ोंके प्रति श्रद्धा और विश्वासका होना सदाचारकी मुख्य एवं प्रथम आधार-शिला है, जिसके पीछे सदाचारके अन्य गुण—जैसे सहिष्णुता, विनम्रता, धैर्य, कार्यपटुता, समयोचित व्यवहार आदि स्वयं खिंचे चले आते हैं।

विद्यार्थीमें संयमका अभाव पाये जानेका यह भी एक कारण है कि आजकल पढ़ना-पढ़ाना एक व्यापार बन गया है। इसमें प्राचीन युगवाला वरतन्तु एवं कौत्सका गुरु-शिष्यका सम्बन्ध नाममात्रको भी नहीं रह गया है। अतः इसमें परिवर्तन परमावश्यक है।

तुम नौकर नहीं, मालिक हो

(ले०—पूज्य श्रीडोंगरेजी महाराज)

ज्ञानस्वरूप कपिल भगवान्‌ने कर्दम और देवहूतिके यहाँ पुत्रके रूपमें अवतार धारण किया।

कर्दमका अर्थ है इन्द्रियोंको दमन करनेवाला—जितेन्द्रिय।

आत्मा इन्द्रियोंका नौकर नहीं, मालिक है।

मालिक यदि नौकरोंकी इच्छाके अनुसार काम करता है तो भारी अव्यवस्था पैदा हो जाती है। मालिकका कर्त्तव्य है कि वह नौकरोंको काबूमें रखे।

अतः कर्दम बनना है तो इन्द्रियोंकी वृत्तियोंका झूठा मोह छोड़ना पड़ेगा। वे जो माँगेंगी, उस विषयका निषेध करना पड़ेगा।

जीवनमें संयम है, तभी ज्ञान संचित हो सकेगा, अन्यथा आँख और जीभ हमें बारह-बाट कर देंगी।

इन्द्रियाँ यदि प्यार माँगें तो उनसे कहो—'मैं तुम्हारा नौकर नहीं, मालिक हूँ। नौकर तो एक-मात्र भगवान्‌का ही हूँ। प्यार चाहिये तो भगवान्‌का प्यार चाहो, विषयोंका नहीं।

ज्ञानस्वरूप कपिलको अपने हृदयके आँगनमें बुलाना हो तो कर्दम बनो, एक-एक इन्द्रियको काबूमें करो, संयमके द्वारा आँख तथा मनकी शक्ति बढ़ाते रहो तथा मनकी सभी वृत्तियोंको सत्कर्ममें लगा दो। तभी कल्याण है।

कल्याणका मार्ग

(लेखक—श्रीचन्द्रकान्तजी बाली)

मानवीय कर्मजालका मूलतत्त्व 'इच्छा' और 'ज्ञान'में निहित है, यह दर्शनशास्त्रका सार है—**जानाति इच्छत्यथ यतते**। सर्वप्रथम मनुष्यको स्वतः-प्रेरित अथवा परप्रेरित अनुभवका आभास या ज्ञान होता है और तब मुझे अमुक वस्तु चाहिये—इस प्रकारकी इच्छा होती है। फिर वह अभिलषित वस्तु किस प्रकार उपलब्ध हो सकती है—इसका उपाय भी अनुसंधानसे ज्ञात कर लेता है—यही **इच्छति, यतते** है। तात्पर्य यह कि ज्ञान, इच्छा और प्रयत्नद्वारा मनुष्य अभीष्ट पदार्थ हस्तगत करनेमें कृतकार्य हो जाता है। वस्तुको हस्तगत करना वास्तवमें 'कर्म' है, इच्छा और ज्ञान उसके प्रेरक तत्त्व हैं। यह कर्म 'आविष्कार' और 'अधिकार' दो प्रकारके रूप-रंगोंमें देखा जाता है, आविष्कार प्रायः ज्ञान (काव्यरचना आदि) और विज्ञान (भौतिक और रसायन)में तथा अधिकार प्रायः निर्जीव पदार्थ (मोटर, कार, टेलीवीजन आदि) और सजीव पदार्थ (पति, पत्नी, पुत्र आदि)में सीमित रहता है। कभी-कभी इच्छा और कर्म 'ज्ञान'के, ज्ञान और कर्म 'इच्छा'के प्रेरक तत्त्व बन जाते हैं, परंतु यह अपवाद है, नियम नहीं है।

सत्पुरुषोंका व्यवहार धर्मकी कसौटी है। स्मृति और श्रुतिके स्थानके समान ही उसका भी स्थान है जो आत्माको प्रिय लगनेवाला वेदोक्त 'कर्म' ही धर्म हैं। कर्म अपनी आत्माके लिये तथा परायी आत्माके लिये एक-सा प्रिय होना चाहिये, जो कर्म अपनी आत्माके प्रतिकूल है, वह परायी आत्माके लिये कदाचित् अनुकूल नहीं हो सकता, इसलिये आत्म-प्रतिकूल (जो वास्तवमें पर-प्रतिकूल भी है) कर्मका निषेध किया गया है—'**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**।' जो वस्तु अथवा कर्म आत्म-प्रिय भी है और पर-प्रिय भी, उसके 'सद्' अथवा 'असद्' होनेका निर्णय 'सदाचार' करता है। जैसे किसीको 'पर-स्त्री-हरण' प्रिय है, वह उसे धर्म मानकर उसपर दृढ़ आचरणशील बन जाता है, उसकी यह मान्यता कहाँतक वैध या अवैध है—इसका निर्णय 'सदाचार'के हाथमें है। श्रीकृष्णका रुक्मिणी-हरण तथा भीष्मका काशिराज कन्या-हरण क्षत्रिय-समाजके लिये तब सदाचाररूपेण मान्य था, ब्राह्मण-समाज, वैश्य-समाज तथा हरिजन-समाजके लिये नहीं। कभी-कभी 'सदाचार'की मान्यताओं अथवा परिभाषाओंमें टकराव हो सकता या हो जाता है (द्रष्टव्य मीमांसा, तन्त्रवार्तिक)। इस विषमव्यवस्थामें कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय 'स्मृतियाँ' करती हैं। जब क्वचित्-कदाचित् स्मृतियोंमें भी मतभेद दीखता है, तब 'श्रुति' अन्तिम निर्णायक होती है।

उदाहरणके तौरपर एक व्यक्ति अपनी कन्याको उत्तराधिकारमें कुछ देना चाहता है, कन्याके प्रति दातव्यकी भावना 'आत्मप्रिय' होनेसे—'धर्म', 'सदाचार' क्वचित् इस धर्मकी अनुमति देता है, क्वचित् अनुमति नहीं भी देता। इस जटिल परिस्थितिमें स्मृतियोंका निर्णय टटोला जाता है। इस विवादाकुल बातपर स्मृतियोंमें भी मतैक्य नहीं है। कन्याके प्रति दातव्यके प्रश्नपर 'मिताक्षरा'का निर्णय कुछ और है, दायभाग आदिका निर्णय कुछ और है। सदाचार तथा स्मृतिशास्त्रके परस्पर विपरीत निर्णय प्रकाशित होनेपर अन्तिम निर्णय 'श्रुति'के हाथमें है, जो वास्तवमें सर्वोपरि निर्णय है। कन्याके प्रति दातव्यपर एक और का निर्णय है '**न जायते रिक्थभाक्**।' दूसरी ओर 'निरुक्त' ३। १४में पुत्र दुहिताका समान दाय भी निर्दिष्ट है '**अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः**।'

('दुर्ग-भाष्य') सदाचार एवं श्रुति-स्मृतियोंके द्वारा यह निर्णय रक्षणीय एवं अनुकरणीय—होता है। इस प्रकार पदे-पदे कार्य-अकार्यकी विचिकित्सा सामने आनेपर आत्मप्रिय-सदाचार-स्मृति-श्रुति इस क्रमसे श्रृङ्खलासिद्ध 'आचार-संहिता'का परिशीलन करते रहना चाहिये। 'सदाचार' धर्मकी प्रथम कसौटी है—इसी एक बातसे उसकी महिमा स्वयं प्रकाशित है।

'सदाचार'के सम्यक् बोधके लिये 'आचार-संहिता'के विरुद्ध अथवा विपक्षका परिचय बड़ा सहायक सिद्ध होगा। दिनको पहचानके लिये रात्रिका, उष्णके अनुभवके लिये शीतका, स्वर्णको परखनेके लिये पीतलका, उत्थानको ग्रहण करनेके लिये अवयानका ज्ञान अनिवार्य है, उसी प्रकार 'आचार-संहिता'-द्वारा प्रदर्शित विधि एवं विपक्षको ठीक-ठीक पहचान करके ही कोई सदाचारमें प्रवृत्त होगा—ऐसा मानकर हम यहाँ 'कोश-क्रम'से उनका उल्लेख करते हैं—

अत्याचार—

'सदाचार' केवल जन-साधारणके लिये उपादेय है, राजवर्गके लिये नहीं, वह तो सदाचारसे ऊपर है—ऐसा हमारे शास्त्रोंमें नहीं है। 'कराधान' एवं 'दण्डसंहिता' राजधर्मके लिये नियमित है। शास्त्र-मर्यादानुरूप कर-अर्जन करना तथा प्रजाजनके अपराधको तौलकर उसके लिये दण्ड-विधान आदि राजकीय 'सदाचार'में निहित है। जो राजा और शासक अंधा-धुंध कराधान एवं कर-अर्जनके लिये उद्यत रहता है, उसका यह 'कर्म' अत्याचार समझा जायगा। राजा अथवा शासक प्रजाजनके सुख-शीलरक्षाका उत्तरदायी होता है, परंतु सत्ताके मदमें जब वह प्रजाजनके सुख, अधिकारका अपहरण करता है, यह उसका निन्दित कर्म अत्याचारमें गिना जायगा। इसी प्रकार कोई धन-सत्ता, बल-सत्ता तथा गण-सत्ताके सहारे जनताका शीलापहरण-कर्ता होगा तो अत्याचारके अपराधमें उसे भी लिप्त समझना चाहिये। शक्तिका दुरुपयोग ही अत्याचारका दूसरा नाम है।

अनाचार—अनाचारका अर्थ है—आचार-हीनता। आचार-हीनता स्वयं अपने-आपमें एक अपराध है। वेदशास्त्र भी ऐसे पापीको पवित्र नहीं करना चाहते—**'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।'** किसी भी शास्त्रकी किसी भी आज्ञाका पालन न करना 'अनाचार' है—

ये नास्तिका निष्क्रियाश्च गुरुशास्त्रातिलङ्घिनः।
अधर्मज्ञा गताचारास्ते भवन्ति गतायुषः॥

(महाभारत)

शास्त्र-प्रतिपादित देवपूजन, पितृकार्य, उपनयन, शौचाचार, अखाद्य-वर्जन आदि, शास्त्रप्रतिपादित किसी भी 'कर्म'में रुचि न लेना, आलसी जीवन-यापन करना, गुरु तथा माता-पिताकी अवहेलना करना—सब-का-सब अनाचारमें समाविष्ट है। अपने ऐतिह्य पुरुषोंके आचरणकी अनावश्यक मीमांसा करना भी एक भिन्न प्रकारका 'अनाचार' है। आयुर्वेद-प्रतिपादित स्वास्थ्य-नियमोंका पालन सदाचार और पालन न करना अनाचार है। राजनियमोंका पालन न करना भी अनाचार ही समझना चाहिये।

दुराचार—कुत्सित अर्थात् घृणित आचरणको कदाचार या दुराचार कहते हैं। स्पष्ट है, जैसे कीचड़का कीट कीचड़में रमा करता है, वैसे घृणित काम करनेवालेको अपने आचरणसे घृणा नहीं रहती। सदाचारवान् पुरुषको कुत्सित कार्योंसे सदा घृणा रहती है। उदरपूर्तिके लिये पशु-पक्षियोंको मारना, पशु-पक्षियोंको मारकर उन्हें खुले बाजारमें बेचना, मांस पकाकर भोजनके लिये परोसना, भट्ठियोंद्वारा विषाक्त शराब बनाना, शराब पीना, पिलाना, जूआ खेलना आदि सब कदाचार हैं। ऐसे कदाचारी पुरुषके साथ कोई सामाजिक सम्पर्क रखना पसंद नहीं करता—**'दुराचारो हि पुरुषः लोके भवति निन्दितः।'** (म०भा०) मांस और मद्यका 'सेवन' अन्य अनेक अपराधोंका मूल कारण होता

है। मलिन वस्त्र धारण करना, दूषित भोजन करना, अवाञ्छनीय पुरुषोंके साथ मैत्री बढ़ाना, अप्रिय बकना—सब कदाचारके कतिपय परिवर्जनीय कुत्सित कर्म हैं।

दुराचार—जिस आचरणको मानवी प्रकृति सहन नहीं कर सकती, उस आचरणमें लिप्त रहना दुराचार है। दुष्ट पुरुष अपनी काम-लिप्सा पूरी करनेके लिये समलिङ्गियोंमें प्रवृत्त होता है, यह उसका दुराचरण है, ऐसे ही पशुओंमें काम-चेष्टा करते रहना भी दुराचरण है। पुरुषोंका स्त्री-विक्रयका घृणित धंधा करना भी इसी प्रकारका दुराचरण है। स्त्रियोंको पुरुषोंके लिये प्रेरित करना तथा पुरुषोंको स्त्रियोंके लिये प्रेरित करना स्पष्ट दुराचरण है। कचहरी आदिमें झूठ बोलना आदि भी इसी कोटिमें आ जाता है।

भ्रष्टाचार—'भ्रष्ट'का अर्थ है(—भ्रंशु ४। ११७—भ्रंसु १। ७४३—अधः पतने+क्तः अर्थात्) पतित व्यक्ति या पदार्थ, उत्कोच (घूस) या पैसे और शराबके बलपर चुनाव जीतना भ्रष्टाचार है। रिश्वत देकर नौकरी पाना अथवा स्थानान्तरण करवाना-रुकवाना भी पतनका कार्य है, तस्कर-व्यापार वास्तवमें भ्रष्टाचार है, कर-वञ्चना अथवा दो-नंबरी कारोबारद्वारा धन-अर्जन भ्रष्टाचार है।

भ्रष्ट आचरणकी सीमा राजनीतिक क्षेत्रतक ही सीमित नहीं है। इसके रंग-ढंग अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग जीवन-यापनमें व्याप्त वैषम्यमें भी परिलक्षित होते हैं। यही सिद्धान्त सामाजिक कार्यकर्ताओंपर भी लागू होता है। सभा-सोसाइटियोंसे ऊँचे पदोंपर पहुँचकर उसका आर्थिक लाभ उठाना अत्यन्त घृणित भ्रष्टाचार है।

मिथ्याचार—मिथ्याचरणकी परिभाषा स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने कही है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
(गी० ३। ५)

इस मिथ्याचरणकी शंकराचार्यने व्याख्या इस प्रकार की है—'जो मनुष्य हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियोंको रोककर इन्द्रियोंके भोगोंको मनसे चिन्तन करता रहता है वह विमूढात्मा अन्तःकरणवाला मिथ्याचारी, ढोंगी, पापाचारी कहा जाता है।' (—शाङ्करभाष्य, पृष्ठ ८७ (गीताप्रेस)

मिथ्याचरण साधु-समाजमें भी पाया जाता है। अपराधी लोग भी साधुवेष बनाकर मौनव्रत भी रख लेते हैं, ताकि अपने-आपको मिथ्याभाषणसे अलिप्त सिद्ध कर सकें। साधक भी अब मनसे उत्तम भोजन, प्रिय-श्रवण, सौन्दर्य-दर्शन, मृदु-स्पर्श, अद्भुत-निवास, आकर्षक परिधान एवं मान-सम्मानका चिन्तन, अनुभवन, परिकल्पन तथा आकाङ्क्षा करते रहते हैं—तो मिथ्याचारी ही हैं। कबीरने ऐसे योगियोंकी निन्दा की है और इसके विपरीत ऐसे भोगियोंकी प्रशंसा की है, जो कर्मेन्द्रियोंके व्यावहारिक जगत्‌में रहकर भी निरन्तर हरि-चिन्तन करते रहते हैं। सदाचारके लिये जीवनके अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्गकी एकरूपता सर्वदा वाञ्छनीय रहती है। कथनी और करनीमें समरसता अन्तःकरणकी पवित्रतापर निर्भर करती है।

उपसंहार—मनुष्य यदा-कदा कुसंगतिमें भी पड़कर घृणित कार्य कर बैठता है और बादमें उसे पश्चात्तापका अनुभव होता है। ऐसे लोगोंके लिये 'प्रायश्चित्त'का विधान भी होता है। परंतु जो जन शास्त्रमर्यादाके अनुसार कल्याणमार्ग ग्रहण करते हैं, वे सदाचारी हैं। जो जन सत्पुरुषोंसे परामर्श करके इन अवाञ्छनीय आचरणोंसे बच कर चलते हैं, वे भी कल्याणमार्गके अनुयायी हैं। सन्मार्गका अनुसरण ही 'जीवन' है, कुमार्गमें निरत रहना 'मरण'से भी निकृष्ट है। भगवान्‌की शरणागति, उनका पूजन आश्रयण ही निष्कण्टक कल्याणका मार्ग है।

एष निष्कण्टकः पन्था यत्र सम्पूज्यते हरिः।

अतः सदा-सर्वदा उन्हें स्मरण रखते हुए धर्ममार्गपर चलते रहना चाहिये। यही सच्चा कल्याणका मार्ग है।

शिष्टाचारके कतिपय सूत्र

(पूर्वानुगत)

४९—यथासम्भव मङ्गलमय, शिष्ट शब्दोंका ही प्रयोग करना चाहिये। अमुक स्वर्गीय हो गये, उनका निर्वाण हो गया अथवा वे ब्रह्मीभूत हो गये आदि शब्दोंसे किसीकी मृत्युका संकेत किया जा सकता है।

५०—किसीके पीठ-पीछे बुराई करना अशिष्टता है। किसीकी अच्छाईका वर्णन गुण-प्रकर्षके उद्देश्यसे किया जा सकता है, पर उसके मुँहपर नहीं; क्योंकि ऐसा वर्णन चापलूसीका रूप धर सकता है। यदि किसीकी आलोचना आवश्यक ही हो तो उसके व्यक्तित्वपर आक्षेप न कर आलोच्य विषयकी शिष्ट, मिष्ट शब्दोंमें करनी चाहिये, जो उसके समक्ष भी बिना हिचक की जा सके। हाँ, अपनी प्रशंसा (आत्मश्लाघा) कदापि न करे, न सुने और बुराई सुनकर लड़ने न लगे, ऐसे स्थलपर उपेक्षानीति अच्छी होती है। अपनी निन्दा सुनकर शान्त रहना अपनी भीतरी गम्भीरताका सूचक है।

५१—पड़ोसी, मित्र, सम्बन्धी आदिके शोक-विषाद और मङ्गलके अवसरोंपर पहुँचकर समाश्वासन, समवेदना और मङ्गलाशंसा (जैसा अवसर हो) प्रकट करनी चाहिये। कष्ट-दुःखादिके समय बिना बुलाये जाना चाहिये—जब कि मङ्गलमय अवसरपर निमन्त्रणकी अपेक्षा हो सकती है।

मृत्युके समय मृतक-परिवारकी यथाशक्ति सर्वविध सेवा करनी चाहिये। यदि शव भी उठाकर श्मशान ले जाना पड़े तो ऊँचे दर्जेकी सामाजिक सेवा मानकर उसे करना चाहिये। गरीबों और असहायोंकी ऐसी सेवाका तो अत्यन्त महत्त्व है। पड़ोसी मृतक-परिवारके बच्चोंकी आवश्यक देख-रेख और खाने-पीनेकी सामयिक व्यवस्था भी करनी चाहिये।

५२—परिवारमें किसीकी मृत्यु हो जानेपर जोर-जोरसे चिल्लाकर शोक व्यक्त करना या रोना अधीरता-की सूचना है। इससे मृत व्यक्तिका भी श्रेय नहीं होता। यहीं धैर्यकी परीक्षा होती है।

५३—मार्गमें शवयात्रा मिलनेपर मार्ग छोड़ देना चाहिये और भगवान्‌के विधानका स्मरण कर शवके प्रति सम्मान-सूचक हाथ जोड़ना चाहिये। किसीके शवका अनादर कभी न करे।

५४—कोई यात्री रास्ता पूछता है तो उसे सही मार्ग बतलाना चाहिये—भले ही कुछ दूर चलकर बतलाना पड़ जाय। यात्रीके उत्साहके लिये लोग अवशिष्ट मार्गकी दूरी कम बतलाते हैं, पर अधिक कम बतलानेसे उसे परेशानी हो सकती है—इसे ध्यानमें रखकर दूरी बतलानी चाहिये।

५५—मार्गमें कोई चिट्ठी पढ़वाये तो ठहरकर पढ़ देनी चाहिये। मार्गमें अन्धे मिल जायँ तो उन्हें बायें-दायेंका सही मार्ग बता देना कर्तव्य है।

५६—मार्गमें काँटा, शीशेका टुकड़ा, केलेका छिलका ईंट, पत्थर या ऐसी चीज जिससे चलनेवालेको कष्ट या अनिष्टकी आशङ्का हो, यथासाध्य स्वयं हटा देनी चाहिये। कुएँ एवं नदीके घाटकी सफाई भक्त-संत कर दिया करते हैं। ऐसे स्थल भगवान्‌के मन्दिर-जैसे पवित्र रहने चाहिये।

५७—किसीके धर्मपर आक्षेप नहीं करना चाहिये। सभी धर्म भगवान्‌की प्राप्तिके साधन हैं—भले ही उनके प्रवर्तकोंका दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हो। प्रवर्तकोंका नाम आदरसहित लेना चाहिये। धार्मिकवादमें नम्रता, प्रेम, सहिष्णुता अनिवार्यतः आवश्यक है। किसी धर्मके साधन-स्थल (मन्दिर-मस्जिद, गिरजा आदि)का विरुद्ध-धर्मी होनेपर भी अपमान नहीं करना चाहिये। मन्दिर-मस्जिदमें जूते ले जाना शिष्टता नहीं है। (क्रमशः)

अमृत-बिन्दु

भजनमें तीन बड़ी बाधाएँ हैं—(१) धन और रूपका लोभ, (२) मान पानेकी लालसा, और (३) लोकप्रिय होनेकी आकाङ्क्षा ।

× × ×

जो मनुष्य विषयों तथा विषयी लोगोंसे दूर रहता है तथा साधुजनोंका सङ्ग करता है, वह सच्चा प्रभु-प्रेमी है ।

× × ×

आडम्बरशून्य होने एवं संतोषी बननेसे ही शान्ति मिल सकती है ।

× × ×

सांसारिक इच्छाओंकी कैदसे छूटनेके लिये अपने 'आपा' (अहंकार)को प्रभु-चरणोंमें समर्पित कर देना चाहिये ।

× × ×

संतोंके साथ हम नित्य-निरन्तर नहीं रह सकते; परंतु उनके भावों—सिद्धान्तोंका नित्य-निरन्तर पालन कर सकते हैं ।

× × ×

अपने अवगुण दीखने लग जायँ तो समझना चाहिये कि वे अब हममेंसे निकलकर जा रहे हैं ।

× × ×

हमें यह सर्वमान्य सिद्धान्त व्यवहारतः अपना लेना चाहिये कि हमारे द्वारा कभी किसीको दुःख न होने पाये ।

× × ×

पापीका कल्याण हो सकता है; किंतु नास्तिक, प्रमादी अथवा कामचोरका उद्धार होना कठिन होता है ।

× × ×

आप सांसारिक भोग्य वस्तुओंकी आवश्यकता जितनी बढ़ायेंगे, उतने ही आप पराधीन होते जायँगे ।

× × ×

किसी व्यक्तिसे किसीके विषयमें ऐसी बात मत कहिये, जिसे स्वयं उसके सामने कहनेमें आपको संकोच होता हो ।

× × ×

आसक्ति (कामना)का छोटा-सा रूप भी हमें भयंकर पतनकी दिशामें डाल सकता है ।

× × ×

पहले कहने और बादमें काम करनेकी अपेक्षा पहले काम करना और फिर उसे कहना अच्छा है; किंतु उससे भी अच्छा है—काम करके चुप रहना ।

× × ×

सांसारिक भोगोंकी प्राप्तिमें भाग्य, उद्योग और चाह तीनोंकी प्रधानता है, जब कि परमात्मा एकमात्र भक्तिसे मिलते हैं ।

× × ×

क्रोधके वशीभूत होकर कुछ कर बैठना भविष्यके लिये अत्यन्त दुःखदायी होता है । [संकलित]

पढ़ो, समझो और करो

(१)

रक्ष माम्, पाहि माम् !

२२ सितम्बर १९७६की घटना है। मैं २४–९–७६ को आठ बजे प्रातः अपनी ड्यूटीपर उपस्थित हो जानेके लिये चौरीचौरा स्टेशनसे अम्बाला कैंट जा रहा था। मेलगाड़ी ग्यारह बजे आयी, उसमें तिल धरनेकी भी जगह नहीं थी। चढ़ना अत्यन्त कठिन क्या—असम्भव था। गाड़ी छूटनेको आ गयी और दौड़-धूपकर भी कहीं, किसी डिब्बेमें प्रवेश नहीं कर सका। गाड़ी चल पड़ी। गाड़ी छोड़ देनेपर चौबीस घंटा ड्यूटीसे लेट हो जाता—सरकारी नौकरी ठहरी! लाचार मैं दो डिब्बोंके बीच गोले मोटे-से लोहेपर खड़ा हो गया। हाथसे पकड़नेके लिये एक और पतला गोल-सा लोहा मिल गया। ट्रेन लेट होनेसे तेजीसे जा रही थी। सर्दीका मौसम था। वर्षाकी फुहारें भी पड़ रही थीं। शीत शरीरको कँपा रहा था। खड़े-खड़े हाथ-पैरोंमें दर्द होने लगा। लगभग बीस किलो सामानके साथ शरीरको सँभाले रखना अब अत्यन्त कठिन हो रहा था। लगता था कि किसी भी क्षण गिरकर मर जाऊँगा। परिवारका एकमात्र सहारा—मैं एक ओर परिवारकी चिन्तासे और दूसरी ओर अपने जीवनकी समाप्तिकी आशङ्कासे त्रस्त हो रहा था। धैर्य धारणकर निष्ठासे भगवान्का ध्यान किया और करुण पुकार की—

राम राघव राम राघव राम राघव रक्ष माम्!
कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहि माम्!!

ऐसे समय भगवान्की कृपाके सिवा और कौन सहारा दे सकता था। धैर्य मानव-धर्मके दस धर्मोंमें प्रथम धर्म है। अतः **'धर्मो रक्षति रक्षितः'**के अनुसार धैर्य-धर्म ऐसे अवसरपर रक्षा करता है। भगवान्की कृपासे गाड़ी आउटर सिगनलपर ही अकस्मात् खड़ी हो गयी। जानमें जान आयी और मैं तुरंत नीचे उतर आया। इतनेमें टी० टी० बाबू मेरे पास आये और बोले—तुम कौन हो? क्यों रातको इधर-उधर घूम रहे हो? मैंने अपनी कहानी कह सुनायी। उन्हें दया आ गयी और उन्होंने अपने साथ चलनेको कहा। मैं उनके साथ हो लिया। उन्होंने मुझे सिटिंग कोचमें सुरक्षित स्थानपर बैठा दिया। मैं आरामसे अम्बाला पहुँच गया।

भगवान्ने मेरी **'रक्ष माम्', 'पाहि माम्'**की पुकार सुन ली—धन्य भगवान् और धन्य उनकी करुणा!

—श्रीप्रह्लादजी पाण्डेय

(२)

माकी कृपा

१९७३ अगस्त महीनेकी घटना है। मैं बिहारके भोजपुर जिलेमें डुमराँव फार्ममें पशु-चिकित्सा-पदाधिकारी था और वहाँसे विन्ध्याचल एवं वाराणसी दर्शनादिके लिये प्रायः जाया-आया करता था। घरपर भी मैं माँ विन्ध्यवासिनीका ध्यान किया करता था। मेरा विश्वास है कि भगवान् या भगवती मासे सांसारिक वस्तुओं-की माँग नहीं करनी चाहिये, वे तो सब जानते ही हैं। आवश्यकताकी उचित पूर्ति वे स्वयं कर देते हैं।

मैं डुमराँवसे बदली चाहता था, पर लगता यह था कि बदली हो भी गयी तो दूसरा कोई यहाँके कार्योंकी विकटता देखकर नहीं आयेगा—फलतः मैं यहाँसे नहीं बदल पाऊँगा। अतः अपनी इच्छाओंको मनमें रखकर भगवान् विश्वनाथ और भगवती विन्ध्यवासिनीदेवीका दर्शन करता रहा। फलतः मेरी बदली हो गयी, पर कार्यभार लेनेवाला कोई डाक्टर नहीं आया। मैंने अपनी दैनिक पूजा-प्रार्थनामें मासे विनती की—'मा! मेरा उद्धार हो जाय—बदली कार्यान्वित हो जाय।' उसी दिन

एक डाक्टर साहब चार्ज लेने आ गये। मुझे खुशी हुई, मैंने माकी कृपासे अपने जिम्मेके कई सेक्शनोंका चार्ज दे दिया।

मुझे वहाँसे तीन बजे चलना था। फार्मसे स्टेशन पाँच किलो मीटर था। ट्रेन छः बजे आती थी। गाड़ीमें सामान रखकर हम दो आदमी पीछे-पीछे जा रहे थे। बाजारसे होकर जानेवाले मार्गपर कुछ गिर जानेकी 'झन'-सी आवाज आयी। रात अँधेरी थी। निपुणतासे देखा तो बच्चोंकी साइकिल थी, उसे उठाकर गाड़ीपर रख दिया। स्टेशन पहुँचकर मैं जब टिकट लेने जा रहा था तो हमारे रास्तेसे आये एक परिचित सज्जनने कहा—'डाक्टर साहब! ये सब सामान आपहीके हैं? बाजारमें लोग बोल रहे थे कि एक गाड़ी सामान था—शायद उसी परसे यह चमड़ेकी अटैची गिरी है।' मैं सन्न रह गया! काटो तो खून नहीं। चलते समय अग्रिम वेतन एवं अग्रिम यात्राभत्ता आदि मिलाकर सोलह सौ रुपये तथा सभी परीक्षा-प्रमाणपत्र, जीवन-बीमा-सम्बन्धी पत्र और अन्य कागजात उसी अटैचीमें थे।

मैं अटैचीके लिये स्टेशनसे पुनः रिक्शा करके गया और उन सज्जनसे मिला। उन्होंने कहा—'मैं समझ गया था कि फार्मकी गाड़ी गयी है, उसीसे यह सामान गिरा है। आप अपना सामान ले लीजिये।' अटैचीमें एक ही ओर ताला बंद था, दूसरी ओरसे उसमेंसे सामान निकाला जा सकता था। पर सच्चाई और ईमानदारीने उसे किसीको छूनेतक नहीं दिया—सब सामान—रुपये-पैसे ज्यों-के-त्यों थे। मैंने उन महानुभावको हार्दिक धन्यवाद दिया और मन-ही-मन माँकी कृपापर अपनेको भाग्यवान् माना कि माँ भगवती किस प्रकार अपने भक्तोंकी रक्षा करती हैं। यदि उन ईमानदार सच्चे महानुभावको अटैची न मिली होती तो उन आवश्यक वस्तुओंका मिलना कैसे सम्भव होता? परंतु माँकी इच्छा कुछ और थी। इसीलिये भक्त आर्त स्वरसे कहते हैं—

इदानीं चेन्मातस्तव यदि कृपा नापि भविता
निरालम्बो लम्बोदरजननि कं यामि शरणम्॥

—डॉ० श्रीरामनिवासजी सिन्हा, पशुचिकित्साधिकारी

(३)

समझदारी

राजस्थानके एक गाँवमें मेरे एक मित्र और उनके एक पड़ोसीमें मकानकी दीवालको लेकर मतभेद हो गया था। दोनों मित्र और साथी थे। दीवालके झगड़ेका जब आपसमें समाधान नहीं हुआ, तब परिणामस्वरूप मुकदमा कोर्टतक गया। इन दोनोंके बीच जो प्रेम था, उसे अन्य व्यक्तियोंने झगड़ा कराकर तुड़वा दिया।

मेरे मित्रका दृष्टिकोण विशाल था, इससे वे छोटी और बड़ी कैसी भी बातोंपर विशेष ध्यान नहीं देते थे। परंतु उनके पड़ोसीके समीप यह दृष्टि नहीं थी। अन्य स्वार्थी लोगोंके कहनेमें आकर उनके उस पड़ोसीने मेरे मित्रके साथ धीरे-धीरे सभी सम्बन्ध समाप्त कर दिये एवं उनके विरुद्ध प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। मेरे मित्रने मौन धारण किया। कोई आता और उनको इसके लिये उत्साहित करना चाहता तो वे कहते—'मुझमें और उनमें मकानकी दीवालको लेकर मतभेद है। इस दीवालको हम अपने सम्बन्धोंके बीचकी दीवाल क्यों बनायें'। थोड़ी-सी बातको लेकर ही किसीको एकाएक बुरा नहीं माना जा सकता।'

इस झगड़ेके बीच ही एक घटना घटी। उनके पड़ोसीका लड़का अचानक मकानकी छतसे नीचे गिर पड़ा और तुरंत उसको शहरमें डाक्टरके यहाँ ले जानेकी आवश्यकता पड़ी। गाड़ी अथवा बसका समय समाप्त हो चुका था। शोकाकुल इधर-उधर दौड़ते हुए उस पड़ोसी भाईकी किसीने सहायता नहीं की। मात्र सलाह और शिक्षा ही दी। इस परिस्थितिमें मेरे वे मित्र

अपना स्कूटर लेकर पड़ोसीके समीप गये और आश्चर्य-चकित सबके देखते-देखते पड़ोसी और उसके लड़केको स्कूटरपर बैठाकर तीन सवारीके साथ अस्पताल पहुँचे और वहाँ डाक्टरसे कहा—'यह मेरा ही लड़का है, भली प्रकारसे देखभाल करनी है।' मानवताके प्रेरक इस दृश्यको देखकर पड़ोसीका हृदय गद्‌गद हो गया। वह बोला—'मित्र! उस दीवालके विवादको अपनी प्रतिष्ठाका प्रश्न बनाकर अपने दोनोंके निर्मल प्रेमके मध्य राग-द्वेषकी दीवाल खड़ी करके मैंने तुम्हारे प्रति अक्षम्य अन्याय किया है। अब मेरा मन उस दीवालकी ओरसे बिल्कुल उदासीन हो गया है। तुम्हारे ऊपर जो केश चल रहा है, उसे मैं आज ही उठा लूँगा। इतना कहकर वह मेरे मित्रसे गले लगकर मिलने लगा। पश्चात् दोनोंको एक-दूसरेके गलेमें हाथ डालकर आनन्दसे इधर-उधर घूमते देखकर, दोनोंके बीच झगड़ेकी दीवाल खड़ी करानेवाले बहुत-से कलहप्रिय व्यक्ति ईर्ष्यासे जलने लगे; क्योंकि उनकी सारी चालें असफल होकर जो रह गयी थीं।

सच है, द्वेष को द्वेषसे नहीं जीता जा सकता; प्रेम ही द्वेषपर विजय पा सकता है।—डॉ० चन्द्रकान्तजी त्रिवेदी
(अखण्ड आनन्द)

(४)

दैवकृपासे प्राण-रक्षा

१८ जनवरी १९७७ ई०के सायं लगभग चार बजे मैं अपने पिताजी श्रीबाबू चन्द्रपालसिंहजीकी जीप गाड़ीसे अपने सभी बच्चोंको साथ ले एक सिक्खचालकके संरक्षणमें कुम्भकी अमावस्याकी पूर्व-संध्यामें प्रयाग जा रहा था। मेरे अनजानमें उस पंजाबीने मार्गमें तीन-चार जगह मदिरापान किया। बच्चे भगवान् और भगवती भागीरथीका कीर्तन गायन करते जा रहे थे। प्रयागका लगभग तिहाई रास्ता बाकी रह गया तो जीपके एक पहियेमें पंचर हो गया। थोड़ी देरमें गाड़ीका पहिया ठीक करवाया। रात्रिमें लगभग नौ बजे जीप अलोपी बागके तिराहेपर पहुँची। वहाँ रोक होनेपर एलेन गंजकी रेलवे क्रासिंगसे दारागंज होते हुए गङ्गाक्षेत्रमें प्रवेश करनेके उद्देश्यसे हमलोग रात्रिके लगभग दस बजे रेलवे फाटकके निकट पहुँच ही रहे थे कि फाटकके निकट खड़ी एक कारको धक्केसे बचानेके उद्देश्यसे ड्राइवरने (जो एकाक्ष भी था) जीपको कमलानेहरू अस्पतालके मोड़की ओर घुमाकर आगे बढ़ाना चाहा। इसी प्रयासमें जीप सहसा दाहिनी ओरकी खड्डेमें तेजीसे दो बल खाते हुए उलट गयी। मेरी दाहिनी बगल एक ठाकुर साहब थे, जो गाड़ीको झुकते देखते ही कूदकर बाहर हो गये। ड्राइवर भी जो बाँये था, निकल भागा। मैं दाहिने हाथके बल नीचे गिरा। दाहिनी ओर ही पीछे बैठी बच्चोंकी माँ और दादीको भी सिर और छातीमें चोटें आयीं। दोनों बड़ी बच्चियोंको मामूली चोट-चपेट लगी। लेकिन पाँच छोटे बच्चोंको—जिनमें एक तो केवल सवा सालका ही था, भगवान्‌ने लगभग बिल्कुल ही बचा लिया। सबसे छोटे बच्चेको तो एक भी खरोच नहीं लगी। मेरे दाहिने हाथमें चोटके कारण अभूतपूर्व और असह्य दर्द था।

उस दुर्घटनाकालकी सबसे उल्लेखनीय बात थी—'एलेन-गंज रेलवे-क्रासिंग'के निकट अस्थायी पुलिस-चौकीपर नियुक्त ठाकुर रुद्रपालसिंहकी हम पीड़ितोंके प्रति बरती गयी अहैतुकी दया; उनका आकस्मिक सहयोग। उनकी सहायता तो अप्रत्याशित और अभूतपूर्व ही रही। कारण इस घटनाके पूर्व न तो वे ही मुझे जानते थे और न मैं ही उनसे परिचित था। इसपर भी उन्होंने कुम्भकी अमावस्याके पूर्वरात्रिकी गम्भीर दायित्वभरी 'ड्यूटी'को अपने सहयोगियोंको सौंप अपनी नौकरीको दाँवपर रखकर हम सबको कमलानेहरू और तत्पश्चात् स्वरूपरानी अस्पताल पहुँचवाया। मरहम-

पट्टी एवं दवादारूकी व्यवस्था करवायी और हमसे परिचय प्राप्त करके अन्ततः हमलोगोंको गङ्गाक्षेत्रमें मेरे ममेरे बड़े भाई श्रीअम्बिकाप्रसादसिंहके अस्थायी आवासपर पहुँचा कर ही विश्राम लिया। प्रशंसा और आश्चर्यकी बात तो यह है कि उन्होंने यह पर-जीवन-रक्षणका महत्कार्य पूर्णतया निस्पृह और निःस्वार्थभावसे ही किया। हम लोगोंके बहुत अनुरोध करनेपर भी कोई सेवा स्वीकार नहीं की। हमलोग उनके इस सद्व्यवहारको पूर्ण कृतज्ञताके साथ सदा ही स्मरण रखेंगे। आज देशको वास्तवमें ऐसे ही कर्तव्य-परायण नागरिकों तथा कार्यकुशल सच्चे जनसेवकोंकी आवश्यकता है।

चोट तथा सदमाके कारण मैं लगभग एक रात और दिनभर लेटा ही रहा। किंतु सभी बच्चों और स्त्रियोंने अमावस्याके पूर्वकालके दिन आकाशमें बादल छाये रहने तथा वर्षा होनेके बावजूद कीचड़, धूल तथा अत्यधिक भीड़की परवाह किये बिना संगममें स्नान किया।

इस आकस्मिक दुर्घटनामें फँसे हम सभी व्यक्ति अपने किसी पूर्वकृत पुण्यके प्रभावसे मृत्युके मुखमें जानेसे बच गये और जो उस घनघोर घटावाली बूँद-बूँद पानी बरसती हुई रात्रिमें पुलिसकर्मी रुद्रपालसिंह-जैसे देव-दूतका हमको अनपेक्षित सहयोग मिला—क्या यह सब उस हजार हाथवाले प्रभुकी अहैतुकी कृपा-करुणाके प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हैं? कम-से-कम हम सबके लिये तो इससे बड़ा और सटीक दैवी कृपाका अद्यावधि कोई अन्य उदाहरण नहीं है। मेरी तो यह स्पष्ट धारणा है कि धर्मभीरुता, धर्मानुष्ठान और भगवदुन्मुखताका ही यह सुपरिणाम है—विशेषकर हमारे देशमें आस्तिक माताओं एवं बहनोंके द्वारा किये गये व्रत, पूजा, दया, दान, मनौती आदि शुभ कार्य किसी-न-किसी रूपमें संकटकालमें अवश्य आड़े आते हैं। इस घटनाके बाद मेरी यह दृढ़ धारणा बन गयी है कि पुण्यकार्य कभी निरर्थक नहीं जाता। दैवी कृपा-प्राप्तिके लिये पुण्यकार्योंका अनुष्ठान आवश्यक है।

—राजा श्रीजगतरणवीर महेशप्रसादसिंहजी बी०ए०, साहित्यरत्न

(५)

भगवद्-विश्वास और इच्छाशक्तिकी प्रबलताका प्रभाव

कलियुगमें भी इच्छाशक्तिकी प्रबलता और परमेश्वरमें विश्वास फलीभूत होता है। मेरे जीवनमें ऐसे अनेक अवसर आये हैं। जब भी मैं किसी महत्त्वपूर्ण संकटपूर्ण कार्यको करनेमें भ्रमित हुआ तब अपने पूजा-कक्षमें स्थित ईश्वरप्रतिमाके सम्मुख बैठकर कार्य-निर्देशनकी आज्ञा माँगी है और उसीके अनुरूप कार्य-सम्पादन किया है।

एक समय मेरी गाय रास्ता भटक गयी, मैं परेशान हो गया। काफी ढूँढ़ा गया, किंतु मिली नहीं। उसे खोये हुए एक रात और एक दिन पूरा हो गया। बछड़ाके चिल्लानेसे मुझे दुःख होता था। मैंने कागजकी तीन चिटोंमें लिखा—'गाय शहरके बाहर है, गाय किसी बस्तीमें है और गाय शहरके रास्तेमें है।' फिर भगवान्से प्रार्थना करके उनमेंसे एक चिट उठायी। 'शहरके रास्तेमें ही है।' मैंने तुरंत रास्तोंमें खोज प्रारम्भ की तो लगभग आधे घंटेमें ही मुझे अपनी गाय मिल गयी।

ऐसे ही एक बार मुझे पासहीके एक गाँवमें अपने एक खास रिश्तेदारके यहाँ भोजमें शामिल होना था। रात हो गयी थी। असमयमें जानेसे रास्तेमें भय भी था, किंतु जाना भी आवश्यक था। मैं किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो गया। ईश्वरका स्मरणकर मैंने उसी चिट-प्रणालीका सहारा लिया। जो चिट उठायी गयी, उसमें आदेश था—'नहीं जाना चाहिये।' बस, मैं ईश्वरीय आदेश मानकर उस दिन उस समय नहीं गया। बादमें मालूम हुआ कि मेरे वहाँ न जानेसे मेरी अनुपस्थितिसे कोई प्रतिकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई; क्योंकि वहाँ मेरे बड़े भाई समयसे पहुँच गये थे।

इसी तरह एक बार और मैं द्विविधापूर्ण स्थितिमें पड़ गया था। मेरे एक मित्रके सम्बन्धीका लड़का रुग्ण था।

वह अस्पतालमें भरती था। मैंने उसके स्वास्थ्यका समाचार लेनेके लिये वहाँ जानेका कार्यक्रम पूर्व रात्रिको ही बना लिया था। प्रातः ही गाड़ीसे जाना था, किंतु कई आवश्यक कार्य भी मुझे उस दिन निपटाने थे। इस समय फिर मेरी विवेकशून्य स्थिति बन गयी। मैंने भगवान्‌से पुनः मार्गदर्शन प्राप्त किया, उसी चिट-प्रक्रियाका* प्रयोग करके। निर्णय मिला—'नहीं जाना चाहिये।' तदनुसार मैं रुक गया। सायंकाल खबर मिली कि वह लड़का उसी दिन सुबह ही दिवंगत हो चुका है। मैंने इसे भगवान्‌का विधान माना। यदि मैं चला गया होता तो अवश्य ही मुझे परेशानी होती और जानेपर वह बालक भी जीवित देखनेको न मिलता। इस प्रकार जब कभी मैं किसी धर्मसंकटमें पड़ता हूँ और कोई निर्णय लेनेमें विवेकशून्य हो जाता हूँ, तब-तब भगवान्‌का आश्रय लेकर इसी चिट-प्रक्रियाका प्रयोग करता हूँ। ऐसे अवसरोंपर मुझे इच्छानुकूल सफलता मिली है।

—श्रीनारायणसिंहजी ठाकुर

(६)

गायके गोबरका गुण

घटना मेरे विद्यार्थिकालकी है। सायंकालके समय हम बहुत-से मित्र गाँवसे दूर घूमने निकले थे। बातोंमें समयका ध्यान नहीं रहा और लौटते समय अँधेरा बढ़ गया। सड़क भी पक्की न थी। मार्गमें बीचोबीच खरसाणीकी† बहुत बड़ी एक डाल पड़ी थी। मेरे पैरसे उसका स्पर्श हुआ। मेरी तरह किसी अन्य व्यक्तिको चोट न लगे, यह विचारकर मैंने उसे उठाकर फेंका। परंतु फेंकते समय ही वह बीचमेंसे टूट गयी और उसका दूध-जैसा सफेद रस उछलकर मेरी आँखोंमें पड़ गया। मेरी आँखोंमें असह्य वेदना होने लगी और दीखना बंद हो गया। मेरा हाथ पकड़कर मित्रोंने किसी प्रकार घर पहुँचाया। गाँवमें छोटा-सा औषधालय था, वह भी बंद था। किसी डाक्टरका मिलना कठिन था। इधर मेरी पीड़ा बढ़ती जाती थी। घरके व्यक्ति भी किंकर्तव्यविमूढ होकर रुदन करने लगे। रोनेकी ध्वनि हमारे पड़ोसमें रहनेवाले वैद्यराजके कानोंमें पड़ी और वे बिना बुलाये ही आ गये। मेरी माँने उन्हें सब बातें बता दीं। उन्होंने कहा—'मैं नेत्रोंमें पट्टी बाँधे जाता हूँ। पट्टीमें लगी दवाको कोई हाथ न लगाये। सवेरे आकर मैं खोल जाऊँगा, भगवान् करेंगे तो आँखें ठीक हो जायँगी।

पीड़ा कम हो जाय और दीखने लगे, हम सबको इतना ही अभीष्ट था। इसलिये हमने वैद्यजीकी आज्ञा स्वीकार कर ली। वे पट्टी बाँध गये। आँखोंमें शीतलता पहुँचनेसे मुझे कुछ देर नींद भी आ गयी। नींद खुली, अनुभव हुआ कि इधर-उधर सोते समय करवट बदलनेसे आँखोंपर बँधी पट्टी कुछ ढीली हो गयी है और कुछ दवा भी बाहर आ गयी है।

मैं स्पष्ट देख तो नहीं सकता था, परंतु अब वेदना नाममात्रको भी न थी। मैं यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया, कि वह गायका गोबर था। प्रातः मैं बाहर आया। वैद्यराज बाहर चबूतरापर बैठकर दाँतून कर रहे थे। मैंने पट्टीमें बची हुई दवा उन्हें बतायी। उन्होंने स्वीकार किया कि यह तुम्हारे घरमें बँधी गायका तुरंतका ताजा गोबर था। उन्होंने बताया कि विष चूसनेकी यह शक्ति गोबरमें होती है। यह देख-सुनकर हम सभी बहुत प्रसन्न हुए।

—श्रीलक्ष्मीनारायणजी, मो० पंड्या (अखण्ड आनन्द)

* इस चिट-प्रणालीका कोई शास्त्रीय आधार नहीं है। वैसे केवल किंकर्तव्यविमूढताकी स्थितिमें धर्मद्वैधकी शङ्कापर श्रेष्ठ धर्माचरणार्थ ही ऐसा प्रयोग-कार्य किया जाना वैध हो सकता है, अन्यथा नहीं; क्योंकि गीता १६। २४के साक्षात् भगवान्‌के वचनानुसार शास्त्र ही कर्तव्यताके परम निर्णायक हैं—

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।' और शास्त्रोपेक्षाका फल भी वे ही स्पष्टरूपसे बतला देते हैं—

'न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्। (गी० १६। २३)

† यह एक काँटेदार वृक्ष होता है, गुजरातके किसान खेतकी सुरक्षाके लिये चारों ओर जिसकी बाड़ लगा देते हैं। इसमें विषैला सफेद दूध निकलता है।

'कल्याण'के आगामी वर्ष (१९७९)का विशेषाङ्क—'सूर्याङ्क'

(निवेदन एवं विनम्र अनुरोध)

शास्त्रोंके अनुसार भगवान् सूर्य अव्याकृत ब्रह्मके मूर्तरूप हैं। प्रत्यक्ष दृष्टिसे भी वे ही चराचर विश्वके संचालक, घटी, पल, अहोरात्र, मास-ऋतु आदिके कारण प्रत्यक्ष देव हैं। ऋग्वेदमें सूर्यकी महिमा और स्तुतियोंसे सैकड़ों 'सूक्त' भरे पड़े हैं। वेदाङ्गों—विशेषतः ज्योतिषशास्त्रमें तो सूर्यसम्बन्धी विषयोंका प्राचुर्य ही है। दर्शनों एवं पुराणोंमें भी—सूर्य साधनाका विशिष्ट स्थान है। सूर्यके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक स्वरूपोंपर हमारे ऋषिमुनियोंने गम्भीर विवेचन किया है। वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, पुराण, आगम आदि शास्त्रोंमें सूर्य-सम्बन्धी प्रचुर साहित्य है। वैज्ञानिकोंने भी सूर्यपर अन्वेषण कर पर्याप्त तथ्योंका विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार भगवान् सूर्य धर्म, कर्म, उपासना, दर्शन, विज्ञान—सभी दृष्टियोंसे ध्येय और ज्ञेय हैं।

अतः कल्याणने आगामी वर्ष—१९७९ के लिये इसके विस्तृत विषय-वस्तुको सूर्याङ्कके रूपमें प्रकाशित करनेका निश्चय किया है। इसके लिये यहाँ सम्भाव्य एक विषय-सूची देते हुए हम सभी अधिकारी विद्वानों, पूज्य धर्माचार्यों, श्रद्धेय संत-महात्माओं, मनीषियों तथा प्राच्य-पाश्चात्त्य विद्याके विषय-मर्मज्ञ लेखक महानुभावोंसे स्तरीय लेखादि रचना और सामग्री प्रेषणके लिये सादर अनुरोध करते हैं।

सूर्यतत्त्व, उपासना, अनुष्ठान, व्रत, त्योहार, उत्सव, मन्दिर, प्रतिमा, सम्प्रदाय आदिके सम्बन्धमें जिन महानुभावोंको विशेष जानकारी हो या जिनके पास सम्बद्ध विषयोंपर खोजपूर्ण सामग्री, रेखाचित्र, छायाचित्र आदि उपलब्ध हों वे कृपया उन्हें उदारतापूर्वक भेजकर अथवा हमें सूचित कर अनुगृहीत करें।

प्रेषित रचनाएँ कागजके एक ही ओर पर्याप्त हासिया छोड़कर सरल-सुबोध भाषा और सुवाच्य अक्षरोंमें लिखित अथवा टंकित होनी चाहिये। लेखादि-सामग्री किसी भी सम्प्रदाय, धर्म, व्यक्ति या मत-मतान्तर अथवा सिद्धान्तपर आक्षेप-युक्त नहीं होनी चाहिये।

—सम्पादक

सम्भाव्य विषय-सूची—

१-वैदिक सूक्तोंमें मङ्गलमूर्ति भगवान् सूर्यका स्तवन
२-वेदोंमें सूर्य (सूर्यसम्बन्धी सूक्ति-श्रुतियाँ)
३-श्री'सूर्य-तत्त्व'
४-ब्रह्माण्डकी रचना और सूर्य
५-उपनिषदोंमें सूर्य और उनकी उपासनाके संकेत
६-ब्राह्मणग्रन्थोंमें सूर्यदेव
७-सूर्यमण्डलके उपास्य—'श्रीसूर्यनारायण'
८-भगवान् सूर्यके त्रिविध स्वरूप
९-षडङ्गोंमें सूर्यसम्बन्धी मान्यताएँ
१०-त्रिस्कन्धज्योतिष और सूर्य
११-दर्शनोंमें सूर्य (तात्त्विक चर्चा)
१२-राजयोग एवं हठयोगमें सूर्यकी अवधारणा
१३-सूर्यसंयमन और भुवनज्ञानका रहस्य
१४-शरीरस्थ नाड़ीचक्र और सूर्य
१५-कर्मयोग और विवस्वान्
१६-चाक्षुषोपनिषद्में सूर्य

सुमधुर गोपालका मधुर स्तवन

(श्रीमधुराष्टकम्)

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम् ।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ १ ॥
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितं मधुरम् ।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ २ ॥
वेणुर्मधुरो रेणुर्मधुरः पाणिर्मधुरः पादौ मधुरौ ।
नृत्यं मधुरं सख्यं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ३ ॥
गीतं मधुरं पीतं मधुरं भुक्तं मधुरं सुप्तं मधुरम् ।
रूपं मधुरं तिलकं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ४ ॥
करणं मधुरं तरणं मधुरं हरणं मधुरं रमणं मधुरम् ।
वमितं मधुरं शमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ५ ॥
गुञ्जा मधुरा माला मधुरा यमुना मधुरा वीचिर्मधुरा ।
सलिलं मधुरं कमलं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ६ ॥
गोपी मधुरा लीला मधुरा युक्तं मधुरं भुक्तं मधुरम् ।
दृष्टं मधुरं सृष्टं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ७ ॥
गोपा मधुरा गावो मधुरा यष्टिर्मधुरा सृष्टिर्मधुरा ।
दलितं मधुरं फलितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥ ८ ॥